हिन्दी के आंचलिक उपन्यासो का रचना-विधान

डॉ० शुभा मटियानी

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों
का
रचना-विधान

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों
का
रचना-विधान

डॉ० शुभा मटियानी

हिमाचल प्रकाशन

पूज्या माँ
को

भूमिका

एक दौर था, जबकि 'आंचलिक' विशेषण, हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में, एक ऐसे सृजनात्मक विस्फोट के रूप में सामने आया था, जिसकी रोशनी में बहुत बाद तक हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों ने उपन्यास के रचना-विधान में 'आंचलिकता' की अवधारणा और संभावनाओं को टटोला और उपन्यास विधा के रचना-विधान के परम्परागत ढांचे में परिवर्तन की एक लहर-सी उत्पन्न हो गई। निस्संदेह इस उथल-पुथल का मुख्य श्रेय फणीश्वरनाथ 'रेणु' को ही जाता है। उन्हें हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में एक स्थापनाकार की हैसियत दी जाती है। उनका प्रारम्भ किया सिलसिला अभी चुका नहीं। अभी भी आंचलिक उन्पयास लिखे जा रहे हैं।

आंचलिक उपन्यासों के महत्व को देखते हुए ही, इन पर शोधकार्य की भी शुरूआत हुई और अब तक में बहुत-से शोध-ग्रन्थ तथा शोध-पत्र हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों को लेकर आ चुके हैं, किन्तु आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान पर समग्रता में सामग्री किसी एक में नहीं मिलेगी। भाषा, आंचलिकता, लोकतत्त्व अथवा शिल्पविधि या किसी एक आंचलिक उपन्यास (अथवा उपन्यासकार) को केन्द्र में रखकर ही अधिकांश शोध-प्रबंध या शोध-पत्र आये हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आंचलिक उपन्यासों के किसी एक पक्ष (या प्रवृत्ति) की जगह, सम्पूर्ण रचना-विधान पर विचार किया गया है। भाषा, शिल्प, विषय-वस्तु या दृष्टि और संवेदना—ये सारे रचना-विधान के अलग-अलग अंग हैं। इनको समग्रता

में ही देखा जा सकता है। मेरी सीमित समझ में, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान पर, यह प्रथम शोध-प्रबन्ध है जिसका श्रेय हिन्दी के वरिष्ठ लेखक, आलोचक तथा प्राध्यापक श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रघुवंश जी को है।

जैसा कि कि शोध-प्रबन्ध में भी जोर देकर कहा गया, आंचलिक उपन्यास कोई स्वतन्त्र विधा नहीं, इसका मूल्यांकन भी उपन्यास के सामान्य रचना-विधान के दायरे में ही किया जा सकता है। उपन्यास में विषयवस्तु के सन्दर्भ में 'चरित्र' की, अवधारणा की जाती है, (और आंचलिक उपन्यासों में तो इसे व्यक्ति-चरित्र से समष्टि-चरित्र ही नहीं, बल्कि अंचल-चरित्र की परिधियों तक जाते भी देखा जा सकता है।) क्योंकि चरित्र ही कथानक को आगे बढ़ाते हैं। खण्डों में हो या समग्रता में, उपन्यास का घटनाक्रम चरित्रों के माध्यम से ही आगे बढ़ता है। कथन-वर्णन भी। शिल्प इन्हीं सबके संयोजन तथा संतुलन के लिए आवश्यक होता है, लेकिन भाषा ही वह माध्यम है, जिसमें कि कोई कृति आकार लेती है। विषयवस्तु, संवेदना और दृष्टि ही नहीं, बल्कि शिल्प भी भाषा में ही सम्भव होता है। इसलिए कृति के रचना-विधान में भाषा का स्थान सबसे प्रमुख होता है।

उपन्यास के बारे में इसे भी एक बुनियादी शर्त मानी जाता है कि यह कुछ कहे जरूर। कुछ ऐसा, जो मानव-विराट के किसी पक्ष को उजागर करता हो। उपन्यास की यह मानव-विराट-केन्द्रित अवधारणा आंचलिक उपन्यासों पर भी ठीक वैसे ही घटित होगी, जैसे सामान्य उपन्यासों में।

आंचलिक उपन्यासों का रचना-विचान, कई बार, सामान्य उपन्यासों से इतनी भिन्नता लिये होता है कि कई विद्वान, भ्रमित होकर, इसे एक स्वतन्त्र नयी विधा करार देते पाये जाते हैं, जबकि उपन्यास-विधा से स्वतन्त्र या नयी जो भी विधा हो, उसके साथ 'उपन्यास' संज्ञा के रूप में जोड़ा ही नहीं जा सकता। कोई भी नयी, या स्वतन्त्र, विधा 'किसी पूर्व-विधा का एक प्रकार' नहीं हो सकती।

आंचलिकता-स्थानीयता की विषयवस्तु ही नहीं, बल्कि भाषा, शिल्प और संवेदना में भी गहरे तक रचकर, आंचलिक उपन्यासकार एक ऐसी छविमयता उत्पन्न करता है, जो आंचलिक उपन्यास को परम्परागत उपन्यास से पृथक करने

का मूल आधार कहा जा सकता है। इस छविमयता या आंचलिकता का कोई उपन्यासकार कितना सर्जनात्मक प्रतिबिम्बन कर सकता है, इसमें ही आंचलिक उपन्यासकार की भी कसौटी है; क्योंकि अन्तत:, प्रकृति की भांति, सृजन ही लेखक का साध्य भी तो है। हालांकि आंचलिक उपन्यास विशद (कथाक्षेत्र) की जगह, खण्ड की समग्रता की अवधारणा से चलता है, किन्तु यह संवेदन और दृष्टि की मानव-केन्द्रिता ही है, जो किसी उपन्यास में सार्वदेशिकता या सार्वजनीनता के तत्त्वों के समावेश को सम्भव बना सकती है।

कहा जा सकता है कि इस कसौटी पर खरे आंचलिक उपन्यासों को ही श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो कि अपने रचना-विधान में कलात्मक स्तर पर जहां आंचलिकता का समावेश करते हों, वहीं संवेदन और दृष्टि के धरातल पर सार्वदेशिक-सार्वकालिक मानव-संवेदनों तथा मूल्यों का भी।

आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान के कई स्वरूप पाये जाते हैं। पूरी तरह आंचलिक। अर्द्ध-आंचलिक। समस्तरीय आंचलिक उपन्यास। जैसे कि 'मैला आंचल' में सारा भारत ही मैला आंचल की प्रतीकात्मकता में देखा जा सकता है। पूरी तरह आंचलिक उपन्यास में स्थानीयता ही प्रतीक बन जायेगी। जैसे 'परती-परिकथा' या 'जिन्दगीनामा' में। अर्द्ध-आंचलिक उपन्यासों में नागार्जुन के 'बलचनमा' और संजीव के 'धार' को रखा जा सकता, जो कि 'बलचनमा' की भांति ही शोषण को केन्द्र में रखकर लिखा गया। समस्तरीय आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में 'सागर, लहरें और मनुष्य' या 'कब तक पुकारूं' अथवा 'कसप' या 'लाल-पीली जमीन' को रखा जा सकता है, जिनमें कि स्थानीयता केन्द्रीय प्रतीक नहीं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता कि आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान का एक व्यापक विवेचन हिन्दी उपन्यास के परम्परागत रचना-विधान को एक तुलनात्मक दृष्टि ही नहीं, बल्कि दिशा और विस्तार भी दे सकता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पूरा होने में जिनका अमूल्य योगदान रहा, उनके प्रति आभार प्रकट करना आवश्यक समझती हूं।

सर्वप्रथम अपने निर्देशक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूर्व-अध्यक्ष तथा प्राचार्य, श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रघुवंश जी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करती हूं, जिनके मार्गदर्शन और आशीर्वाद के बिना इस कार्य का सम्पन्न होना सम्भव ही नहीं था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के वर्तमान अध्यक्ष तथा प्राचार्य श्रद्धेय गुरुवर डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी को भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती हूं, जिन्होंने समय-समय पर हर सम्भव सहायता की।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा हिन्दी विभाग के अपने अन्य गुरुजनों के प्रति भी हार्दिक समादर व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझती हूं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गुरुवर डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र जी के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन तो विशेष रूप से करना चाहूंगी, जिन्होंने समय-समय पर शोधकार्य के निष्पादन में ही सहायता नहीं की, बल्कि अपने पास से सन्दर्भ-पुस्तकों को भी उपलब्ध कराया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय और वाचनालय, हिन्दी संस्थान के अलावा, एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, बम्बई के पुस्तकालय के प्रति भी आभार व्यक्त करना जरूरी समझती हूं, जहां से प्राप्त सन्दर्भ-ग्रन्थों से मुझे शोधकार्य में काफी सहायता मिली। इस महिला विश्वविद्यालय की हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डॉ० उमा शुक्ला व रीडर डॉ० माधुरी छेड़ा के प्रति भी सादर आभार प्रकट करती हूं, जिन्होंने कि इस विश्वविद्यालय में हिन्दी प्रवक्ता के तौर पर मेरी अल्पकालिक नियुक्ति के दिनों में मुझे शोधकार्य पूरा कर लेने के लिये निरन्तर प्रोत्साहन दिया।

व्यक्तिगत रूप से सन्दर्भ पुस्तकें जुटाकर देने के लिए आदरणीय राजेन्द्र यादव जी तथा राजकमल प्रकाशन के श्री मोहन गुप्त जी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूं। उत्तर प्रदेश शासन के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूं, जहां से कि शोधकार्य में सहायता के लिए राशि प्राप्त हुई।

अपने परिवार में सर्वप्रथम पूज्या मां (श्रीमती नीला मटियानी) के प्रति औपचारिक लगते हुए भी, अन्तरंग कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूं, जिन्होंने मेरे शोध-कार्य के पूरा होने को एक स्वप्न की तरह देखा। छोटी बहन तरुलता की भी ऋणी हूं, जिसने इस शोध-प्रबन्ध की पाण्डुलिपि तैयार करने में निरन्तर मेरी सहायता की। छोटे भाइयों की भी आभारी हूं। बिना परिवार के सहयोग के यह कार्य सम्पन्न कर पाना असम्भव था। पूज्य पिताजी के प्रति कुछ भी कहूं, तो मात्र औपचारिकता ही होगा। मां ने और उन्होंने निरन्तर प्रेरणा दी कि अपना शोध-कार्य हर परिस्थिति में पूरा करूं।

श्री राधेश्याम त्रिपाठी जी के प्रति सम्मान और आभार प्रकट करना भी अत्यन्त आवश्यक समझती हूं, जिन्होंने कि इस शोध-प्रबन्ध को, अनेक असुविधाएं उठाकर भी, समय पर टंकित कर दिया। साहित्य भण्डार, इलाहाबाद के संचालक श्री सतीशचन्द्र अग्रवाल के प्रति भी उनसे मिले सहयोग के प्रति आभार व्यक्त करती हूं। उन सबके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, जिनसे कोई परोक्ष सहायता मिली हो।

—शुभा मटियानी

अनुक्रम

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का रचना-विधान

आंचलिकता की अवधारणा का विकास

(क) उपन्यास की अवधारणा

प्राणी से मनुष्य बनने के क्रम में चेतना, भाषा और श्रम का ही निर्णायक महत्त्व है। प्रतीक-स्रष्टा प्राणी ही मनुष्य है। प्रतीकन की यही प्रक्रिया इन्द्रियबोध, विचारबोध और भावबोध को विभिन्न रूपों में रूपायित और परिष्कृत करती तथा स्वतः समृद्ध होती हुई अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को जन्म देती है। कर्म और वाणी दोनों ही उन्हें अवधारित, प्रतीकित और अभिव्यक्त करते हैं। साहित्य की अनेकानेक विधायें भी इसी प्रक्रिया की सामाजिक निष्पत्तियां हैं। उपन्यास (विधा) का नियम भी यही है।

सामाजिक प्राणी होने से अपने अनुभव, भावसंवेदनों अथवा विचारों को दूसरों तक अधिकतम आकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा सुन्दर ढंग से सम्प्रेषित करने की हर व्यक्ति में एक स्वाभाविक इच्छा होती है। सारी ललित कलाओं के आविष्कार की कहानी यही है।

उपन्यास अनुभव, भावसंवेदन तथा विचार को अधिकतम आकर्षक तथा प्रभावी ढंग से कह सकने की उस कथा-परम्परा का ही एक सर्वाधिक विकसित रूप है, जिसका प्रारम्भ हमें दंत-कथाओं से लेकर लोक-कथाओं तक में मिलता है। ई० एम० फोर्स्टर के अनुसार—"कहानी अत्यधिक पुरातन कला है, जो नवपाषाण, बल्कि सम्भवतः पुरापाषाण युग से चली आ रही है। नीडरवाल मानव की खोपड़ी के आकार से अनुमान लगाया जा सकता है कि वह भी कहानी सुनता था। आदिकालीन श्रोतागण मेमथ अथवा बालदार गैंडे से लड़ाई कर थके हुए उलझे बालों वाले व्यक्ति होते थे, जो शिविर-अग्नि के पास मुंह उघाड़े हुए केवल कुतूहलवश आंखें फाड़े बैठे रहते थे, आगे क्या होगा।"[1]

कहा जा सकता है कि संघर्ष के बाद के रिक्त तथा शांत समय को व्यतीत करने की व्याकुलता ने ही आदमी को विभिन्न कला माध्यमों के आविष्कार की दिशा दी होगी। भाषा की उत्पत्ति में भी अभिव्यक्ति के दबावों की ही मुख्य भूमिका रही है। मनुष्य के संवेदनतंत्र की बनावट ही ऐसी है कि उसमें हर अनुभव एक हलचल उत्पन्न करता है। उपन्यास मनुष्य की हलचलों की अभिव्यक्ति का अगर आज सर्वाधिक सक्षम

---

1. ई० एम० फ़ोर्स्टर, 'उपन्यास के पक्ष' (अनु०) पृ० 19

माध्यम बन गया है, तो इसीलिए कि इसके तार आदिम मनुष्य के कहने-सुनने की छटपटाहट तक भी जाते हैं।

भाषा के आविष्कार के बाद के उस अलौकिक क्षण की कल्पना ही की जा सकती है, जब आदमी ने पहली बार 'तुक' मिलाने में सफलता प्राप्त की होगी और इस प्रकार 'पद्य' को जन्म दिया होगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लिखित साहित्य में गद्य भले ही बाद की वस्तु माना जाय, इससे पूर्व 'गद्य' ही अभिव्यक्ति का प्रकार रहा होगा, भले ही अपने विन्यास में—व्याकरण का विधान होने तक—'पद्यनुमा' ही रहा हो।

कथा को पद्य की जगह गद्य में कहने के सिलसिले का जो विकसित रूप हमें आधुनिक कहानी (Modern story) में मिलता है, उपन्यास इसी कथा-विधा का एक व्यापक रूप है। गद्य और पद्य, अभिव्यक्ति के विशेषीकृत रूप हैं, जो जीवन के सार-तत्वों को भाषिक आकार-प्रकार देते हैं। वृत्तान्तों और इतिवृत्तों के साथ सामाजिक जीवन से प्रयोग के स्तर पर सीधे सम्बद्ध होने से गद्य ने उपन्यास को सामाजिक जीवन से जोड़ने का भी कार्य किया और इसका यह परिक्रम ज्यों-ज्यों विकास और विस्तार पाता गया, त्यों-त्यों उपन्यास मनुष्य के सामाजिक जीवन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने का सर्वाधिक प्रभावी माध्यम बन गया है।

उपन्यास में कहानी के सारे आधारभूत तत्वों के साथ-साथ, एक ऐसा सुविस्तृत ढांचा भी मिल जाता है, जिसमें लेखक को मानव-जीवन के विस्तार को समोने का पूरा-पूरा अवसर सुलभ रहता है, परन्तु 'कहानीपन' उपन्यास का भी आधारभूत तत्व माना जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि महाकाव्यों के बाद, आदमी की जीवनगाथा को उसके व्यापक फलक में प्रस्तुत कर सकने का अवसर लेखक को पहली बार महाकाव्यों के तत्वों के उपन्यास-विधा में अन्तर्गुम्फन के बाद ही मिल पाया है। जिस प्रकार महाकाव्य में खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, स्फुटकाव्य इत्यादि, काव्य के अनेकानेक प्रकारों के सारभूत तत्व और रूप समाहित हैं, उसी प्रकार गद्य के सभी प्रकारों के तत्व उपन्यास में समेकित मिल जायेंगे। सम्भवतः यही कारण है कि कई लोगों के द्वारा उपन्यास को गद्य का महाकाव्य तक कहा गया है। हेगेल ने उपन्यास को 'मध्यवर्गीय संसार का महाकाव्य' कहा है। होमर की तुलना आधुनिक उपन्यासकारों से करते हुए उसने लिखा है—'महाकाव्य में व्यक्ति को स्वतंत्र और स्वायत्त चित्रित किया जाता है।'[1]

कहा जा सकता है कि उपन्यास वाचिक परम्परा का महाकाव्य है।

'महाकाव्य' विधा (सुनाने, लिपिबद्ध होने, पढ़ने और छपने के क्रम में) लोगों की चेतना के विकास के साथ बदलती रही और औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ यह उपन्यास के रूप में बदल गयी। अवकाश के क्षणों में पुस्तक का बढ़ता महत्त्व पत्रकारिता के रुझान से भी प्रभावित हुआ। अक्षरक्रांति और प्रकाशन क्रांतियां 'उपन्यास' के आकार-प्रकार ही नहीं, उसकी आत्मा को भी बदलने में सहायक हुई। इन सारे परिवर्तनों का उपन्यास की 'अवधारणा' को निर्मित करने और बदलने पर प्रभाव पड़ता

---

1. सम्पा० निर्मला जैन—'साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन' : पृ० 88-89

रहा है। रूढ़ि और नवीनता तथा प्रदत्त और प्रकल्पित की इस धारावाहिकता में अवधारणाओं का सामान्य और विशेष रूप बदला है। परिभाषाओं से निर्मित 'अवधारणा' और उपन्यासों के पठन-पाठन से निर्मित 'अवधारणा' अपने सारतत्व की दृष्टि से भिन्न होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य और पद्य दोनों ही काव्य हैं। 'श्रव्य' और 'दृश्य' दोनों ही काव्य के भेद हैं। श्रव्यता और दृश्यता ही मुख्य आधार हैं, जो ग्रहणशीलता और पाठक की अभिमुखता के आधार पर किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के इस भेद के बाद कथा और आख्यायिका का भी भेद किया गया है। आख्यानात्मक दृष्टि से उपन्यासों के भारतीय स्रोतों की खोज विधा के स्तर पर इन्हीं रूपों में की जा सकती है। महाकाव्यों के समानान्तर चरितकाव्यों का विकास विधा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इसे आधुनिक दृष्टि से चरितकेन्द्रित कथात्मक विकास कहा जा सकता है। वाणभट्ट और दण्डी के 'हर्षचरित' और 'दशकुमारचरित' को ऐतिहासिक उपन्यासों का पूर्वरूप माना जाना चाहिए। कल्पनाप्रधान प्रेमकहानी होने के बावजूद तत्कालीन नैतिक मापदण्डों और संस्कारों को व्यक्त करने की दृष्टि से 'कादम्बरी' का कम महत्त्व नहीं है।

'उपन्यास' शब्द का इतिहास अवधारणा के विकास और परिवर्तन का ही इतिवृत्त है। इसलिए इस शब्द के विविध प्रयोगों का अध्ययन अनपेक्षित नहीं होगा। उपन्यास के सन्दर्भ में प्रख्यात आलोचक बाबू गुलाबराय की टिप्पणी इस प्रकार है—'अंग्रेजी शब्द 'नाविल' में कहानी-तत्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अंग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवलकथा'—शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को कादम्बरी भी कहते हैं। यह एक व्यक्तिवाचक नाम को जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। 'उपन्यास' शब्द प्राचीन नहीं है, कम-से-कम उस अर्थ में, जिसमें उसका आजकल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की संधियों का एक उपभेद है, (प्रतिमुख संधि का), इसकी दो प्रकार की व्याख्या की गई है—'उपन्यास प्रसादनम्' (साहित्यदर्पण 6।9) अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं, दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—'उपपत्तिकृताह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः।' अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्ति-युक्त रूप में अर्थ को उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो, किन्तु वास्तव में नाटक-साहित्य के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है—सामने रखना।'[1]

उपन्यास के सन्दर्भ में गुलाबराय जी के उपरोक्त कथन पर गहराई से विचार करें, तो ये कुछ तथ्य सामने आयेंगे। अंग्रेजी के 'नॉवल' का अर्थ नवीन (या आदर्श) लगाया जाता है, तो इससे अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा कि इस शब्द के उपन्यास

---

1. गुलाबराय—'काव्य के रूप' : पृ० 151

के किसी वस्तुगत रूपविधान की जगह, उसके (या उससे) अपेक्षित गुण की प्रतीति अधिक होती है। ऐसे में, 'प्रसन्न करने' या 'किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करने' की कला के रूप में कोई बहुत बड़ा तात्विक अन्तर संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में आये 'उपन्यास' या अंग्रेजी के 'नॉवेल' शब्द में नहीं दिखता।

बहुत सम्भव है कि अगर गद्य की विधाओं का विकास हिन्दी में भी अंग्रेजी की ही भांति हुआ होता, तो 'उपन्यास' शब्द इस विधा के लिए यहां भी पहले ही अस्तित्व में आ गया होता। आखिर अंग्रेजी के 'नावेल' का हिन्दी अनुवाद उपन्यास भी तो यही सिद्ध करता है कि हमारे यहां उपन्यास शब्द की जो अवधारणा रही है, वह अंग्रेजी के 'नॉवेल' के समरूप ही है। जहां तक उपन्यास के लिए 'नवलकथा' शब्द के प्रयोग का सवाल है, इसका ज्यादा प्रचलन मराठी नहीं, गुजराती भाषा के साहित्य में मिलता है, जिसका अर्थ 'नयी कथा' होता है। स्पष्ट है कि कथा का नया प्रकार मानकर ही इसे 'नवल कथा' नाम दिया गया।

इस दृष्टि से देखें, तो मराठी में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द की प्रयुक्ति का कारण बाणभट्ट की काव्यकथा कृति 'कादम्बरी' की प्रेरणा भी हो सकती है, जिसके कथा-विन्यास का स्वरूप लगभग उपन्यास के ढांचे और स्वरूप से मेल खाता है। 'उपन्यास' शब्द का अर्थ और कदाचित् 'सामने रखना' भी लगाया जाए, तो कहा जा सकता है कि कोई उपन्यासकार आखिर इसके माध्यम से मानव-जीवन के अनुभवों को ही तो सामने रखना चाहता है।

'हिन्दी साहित्य कोश' में उपन्यास के बहुविध, विशद तथा व्यापक स्वरूप को देखते हुए जहां एक ओर यह कहा गया है कि 'उपन्यास की परिभाषा देना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यापक रीति से कह सकते हैं कि यह गद्य का एक अन्यतम रूप है, जिसका आधार कथा है, चाहे वह सीधे मनुष्यों की कथा हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति की अथवा चाहे सच्ची हो या कल्पित।'[1]—यहीं इन शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए, इसके स्वरूप तथा गुणपक्ष की विस्तृत चर्चा की गई है।

'उपन्यास' शब्द को लेकर कहा गया है—'उपन्यास, यह शब्द उप-समीप तथा न्यास' धातो के योग से बना है, जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति, जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसमें हमारी ही कथा, हमारी ही भाषा में कही गई है। आधुनिक युग में जिस साहित्य-विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द सर्वथा समर्थ है।'[2]

उपन्यास विधा के आधुनिकतम रूप के अनेकानेक सारतत्वों की इसमें समाविष्टि का उल्लेख करते हुए, 'उपन्यास' शब्द को लेकर, साहित्यिक कोशकारों ने स्पष्ट कहा

---

1. हिन्दी साहित्य कोश : भाग-1 सं०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा डॉ० रघुवंश, पृ० 155
2. वही, पृ० 153

है—'उपन्यास हमारे लिए कोई नूतन शब्द नहीं है और गुणाढ्य की वृहत्कथा, पंचतंत्र, बौद्ध जातक कथाओं तक मजे में उसके सूत्र को खींच ले जाया जा सकता है।'[1]

'शब्दकोश' में भी 'उपन्यासवस्तु वांङमुखम्' कहा गया है। यदि उपन्यास को वांङमय के एक मुख्य अंग के रूप में लें, तो यह स्वतः ही (काव्य की तरह) व्यापक अर्थ ध्वनित करता भाषित होता है। काव्य वांङमय का आधार है और 'काव्य' शब्द की परिभाषा करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश' में कहा गया है—

'काव्य के अन्तर्गत वह सब सर्जनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदि के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार वांङ्मय में समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टा आ जाती है।'[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'उपन्यास' शब्द हमारे वांङमय में अपनी पूर्व अवधारणाओं में ही कुछ ऐसे बुनियादी सारतत्वों को समाविष्ट किये हुए था कि इसे अंग्रेजी के 'नॉवेल' के अर्थ में व्यवहार में लाये जाने पर 'नॉवेल' के अर्थवृत्त की समतोल अभिव्यक्ति में कोई बाधा अनुभव नहीं हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की आधुनिक विधा के रूप में अनेक परिभाषायें की गई हैं, जिनमें यह माना गया है कि उपन्यास शब्द मानव-जीवन के सारे कार्यकलापों तथा गद्य के लगभग सारे रूपों को अपनी परिधि में ले लेता है। ऐसे में, यह तथ्य कुछ चकित करने वाला ही माना जा सकता है कि 'उपन्यास' शब्द को प्राचीन भारतीय वांङमय में भी 'व्यापक अर्थसमूह वाले शब्द' के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है। लेकिन जहां तक उपन्यास विधा के हिन्दी में प्रचलन का सवाल है, ढांचे ही नहीं, बल्कि वस्तु-विन्यास तथा किसी सीमा तक प्रकृति में भी इसकी प्रेरणा के स्रोत पाश्चात्य उपन्यासों में ही मिलेंगे।

पश्चिम में उपन्यास का उदय मध्यवर्गीय शिक्षितों के मनोरंजनार्थ हुआ। आनवाट[3] ने उपन्यास के उदय पर विचार करते हुए शिक्षित मध्यवर्गीयों की संख्या और मांग को उपन्यास के उदय और मध्यवर्गीय स्थिति और चिंतन को उपन्यास की बनावट-बुनावट से माना है।

बूर्जुवा वर्ग (मध्यवर्ग) और वर्तमान पूंजीवाद को इसका जनक मानने वाले आलोचकों का अच्छा-खासा वर्ग है, जो इसके अवधारणात्मक रूप को मध्यवर्गीय रुझान से नापता है। स्वयं नयेपन या नौवालिस नॉवेल का सम्बन्ध ही कथा कहने की पहली परम्परा से अलग हटकर मनुष्य के नये औद्योगिक सम्बन्ध की कथा कहना भी माना गया है।

स्वतंत्रता, वैयक्तिकता, पूंजीवादी उत्पादन के कारण बनते-बिगड़ते नये सम्बन्ध, मनुष्य के द्वारा परिस्थिति को बदलने की कोशिश को आधुनिक उपन्यास की शुरुआती

1. हिन्दी साहित्य कोश : पृ० 153
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ० 767, सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि
3. 'उपन्यास का उदय' : आनवाट

विशेषताएं माना गया। हिन्दी के पहले उपन्यासकार श्रीनिवासदास दावे के साथ 'परीक्षागुरु' की भूमिका में अंग्रेजी उपन्यासों की पद्धति पर उपन्यास लिखने की बात करते हैं, परन्तु भारतीय जीवन-पद्धति की तत्कालीन अपरिवर्तनशीलता और हिन्दी पाठकों की स्तरीकृत रुचियों की अविद्यमानता के कारण उनका प्रयोग बहुत आसान प्रयास-मात्र लगता है, लेकिन ब्रजकिशोर को सुधारने में अपने प्रयत्नों-द्वारा वह सफल तो होता है।

हिन्दी उपन्यास पश्चिम के उपन्यासों की तरह तो विकसित नहीं हुआ, बल्कि भारतीय कथा-सन्दर्भ में पश्चिम की भांति विकसित हुआ। अज्ञेय ने उपन्यास के विकास को 'मानव बनाम परिस्थिति' की प्राथमिक स्थिति से शुरू करके 'व्यक्ति स्वयं परिस्थिति' की स्थिति तक स्वीकार किया है। यह विभाजन कालक्रमिक दृष्टि से जितना पश्चिमी उपन्यास विकास पर लागू होता है, हिन्दी पर उतना नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि इससे आज के मनुष्य की स्थिति और उपन्यास की अवधारणा, दोनों पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

उपन्यास के अन्तर्गत 'समाज में मनुष्य' और 'समाज में व्यक्ति' पर बलाघात देने से अन्तर पड़ जाता है और इससे कालक्रमिक और एककालिक अवधारणाओं को समझने में मदद मिलती है।

प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'कहानी कला' पर लिखते तथा कहानी की अवधारणा के रचना और समाज के केन्द्रित कालक्रमिक विकास को रेखांकित करते हुए कहानी और उपन्यासों पर समान चर्चा की है तथा स्पष्टत: लिखा है कि 'कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।'[1] यानी कहानी के रचना-विधान का घटना से अनुभूति की ओर विकास हुआ है, उपन्यासों के सन्दर्भ में भी यही सत्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 1910 ई० में नागरी प्रचारिणी सभा में, 'उपन्यास' लेख के अन्तर्गत, हिन्दी उपन्यास के विकास और अवधारणा के सम्बन्ध पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। उनके अनुसार, 'मानव जीवन के अनेक रूपों से परिचय कराना उपन्यास काम का है। यह उन सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुंच के बाहर हैं। बहुत लोग उपन्यास को शुद्ध कल्पना बतलाते हैं, पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान-शक्ति है, न कि केवल कल्पना। तोता-मैना का किस्सा और तिलिस्म ऐयारी की कहानियां निस्सन्देह कल्पना की क्रीड़ा हैं और असत्य हैं, पर स्वर्णलता, दुर्गेशनन्दिनी, बंगविजेता, जीवनसन्ध्या, बड़ा भाई आदि के रंग के गार्हस्थ्य और ऐतिहासिक उपन्यास अनुमान-मूलक और सत्य है।'[2]

आचार्य शुक्ल की उपन्यास की परिभाषा उनके महाकाव्य की परिभाषा की याद दिलाती है। वस्तुत: आधुनिक काल के अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार भी इसके महा-काव्यात्मक संस्कार से प्रभावित हैं। इसकी अवधारणा का विवेचन करते हुए महाकाव्य

---

1. प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य, पृ० 53
2. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-3, पृ० 102

से तुलना लगभग अनिवार्य हो जाती है। टामस मान-जैसे प्रसिद्ध उपन्यासकार ने इसे 'शुद्ध कविता' को स्थानापन्न करने वाली आलोचना बताते हुए लिखा है कि—उपन्यास का महाकाव्य से वही सम्बन्ध है, जो 'सचेत सर्जनात्मकता' का 'अचेतन सर्जनात्मकता' से होता है। जहां महाकाव्य अपनी आद्य आख्यानात्मकता के द्वारा जीवन समग्र को सरल रूप में प्रस्तुत करता है, वहां उपन्यास में आधुनिक संसार का आलोचनात्मक चित्र होता है।[1]

वस्तुत: उपन्यास की अवधारणा का मूल्यांकन, साहित्य मात्र की अवधारणा के सन्दर्भ में ही हो सकता है। उपन्यास विधा का विधा के रूप में अवधारणात्मक इतिहास साहित्य की सभी विधाओं के इतिहास के सन्दर्भ में विवेचित होना चाहिए। प्रसिद्ध रूसी आलोचक मिखाइल बख्तीन ने लिखा है कि—'उपन्यास एकमात्र ऐसी विधा है, जो अभी भी विकासमान है और पूरी तरह निरूपित नहीं हुई है। विधा-निर्माण-कारी शक्तियां हमारी आंखों के सामने कार्यरत हैं। उपन्यास, विधा का प्रादुर्भाव और गठन ऐतिहासिक दिवस के पूर्ण प्रकाश में हो रही परिघटना है। उपन्यास का विधागत ढांचा अभी पूरी तरह बना नहीं है। (जब रूस में यह स्थिति है, तो भारत की कल्पना की जा सकती है—शोधछात्रा) और अभी हम यही अनुमान नहीं लगा सकते कि इसमें विकास की क्या-क्या संभावनायें निहित हैं—विकसित होते हुए यह ढांचा अंततः क्या रूप धारण करेगा—सभी वृहद विधाओं में से केवल उपन्यास ही लिपि और पुस्तक के पश्चात् प्रकट हुआ और केवल यही अपनी प्रकृति से मूक अवबोध के नये रूपों, अर्थात्—पठन के लिए अनुकूलित है।··· किन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यास की कोई ऐसी रीति नहीं है, जैसी कि दूसरी विधाओं की।'[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी पहले मराठी के उपन्यास-साहित्य के प्रथम तथा प्रमुख आलोचक विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने सन् 1902 में लिखे अपने 'उपन्यास' शीर्षक लेख में उपन्यास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा कि 'उत्कृष्ट विचारों और पुरुषार्थों के प्रसार के लिए उपन्यासों से बढ़कर और आसान उपाय कोई नहीं है।"[3]

उपन्यास की व्यापक क्षमता का आकलन करते हुए उन्होंने कहा—'वह छोटे-छोटे बच्चों को पशु-पक्षियों की कहानियां सुनाकर उनमें भक्ति और साहस के बीज बोयेगा, महिलाओं को संसार-सुख-सिद्धि का मंत्र पढ़ाएगा, युवाओं को राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा का रहस्य समझायेगा और वृद्धों के लिए जीवन की सार्थकता का मार्ग प्रशस्त करा देगा। यह

---

1. सं०—एच० एम० ब्लाक और एच० एल० आर्लिगर—'दि आर्ट ऑफ द नॉवेल'—दि क्रियेटिव विजन, पृ० 94
2. साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र : संकलनकर्ता—ए० सीट्रोरोव : प्रकाशक—प्रकाशन मास्को : 1987
3. उपन्यास : मूल लेखक काशीनाथ राजवाड़े : अनु० ह० श्री० साने। हिन्दी में डॉ० नामवर सिंह-द्वारा सम्पादित 'आलोचना', अंक-84 जनवरी-मार्च 1988 में प्रकाशित, पृ० : 28

सब कुछ करते हुए सामान्यजनों को पता तक नहीं चलेगा कि उपन्यास ने ये सारे काम कब और कैसे किये।'[1]

उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान की विशाल परिधियों को दृष्टिगत करते हुए राजवाड़े-जैसे भाव-विभोर हो उठते हैं। 'उपन्यास को हम आधुनिक मयासुर मानते हैं।'[2]—जैसा भावोद्गार प्रकट करते हुए राजवाड़े श्रेष्ठ उपन्यासकारों को इन शब्दों में अपना साधुवाद देते हैं—'वे आधुनिक युद्धिष्ठिर, भाग्यवान और कृती हैं, जिन्हें इस मयासुर पर अधिकार प्राप्त हुआ है।'[3]

उपन्यास की मानव-जीवन की व्यापकता को अंकित करने की शक्ति को लेकर सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी अत्यन्त काव्यात्मक ढग से अपना यह मत व्यक्त किया है—'उपन्यास का जगत खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा के समान है, जिसमें नाना वर्ण के वृक्ष, लता, गुल्म, पशु, पक्षी आदि स्वच्छन्द रूप से विहार करते हैं, यद्यपि इस स्वच्छन्दता में भी एक समग्रता तो रहती ही है।''[4]

राजवाड़े ने उपन्यास की लोगों की समझ को विकसित तथा आन्दोलित कर सकने की जिस शक्ति का उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि अंग्रेजी के विश्व प्रसिद्ध उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स के इस कथन से भी होती है—'उपन्यास जीवन की एक उज्ज्वल पुस्तक है। पुस्तकें जीवन नहीं हैं, वे सिर्फ हवा में थरथराहट पैदा करती हैं, लेकिन उपन्यास एक ऐसी थरथराहट है, जो समूचे जीवित मनुष्य को कंपा सकती है। कविता, दर्शन, विज्ञान या किसी भी पुस्तक की थरथराहट से कहीं ज्यादा जबरदस्त उपन्यास की थरथराहट है।'[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की जिस विशिष्टता तथा विपुल समाहरण-शक्ति ने साहित्य के अनेक मर्मज्ञों को गहरे तक प्रभावित किया है, उसका मूल आधार यही दिखाई पड़ता है कि मानव-जीवन का कोई कार्यकलाप, कोई समस्या अथवा उससे जुड़ी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान के व्यापक पटल पर अंकित न किया जा सकता हो। फिर चाहे वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—"खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा" ही क्यों न हो।

मानव-जीवन की समस्याओं से उपन्यास के गहरे रूपों में आबद्ध होने को लेकर विख्यात आलोचक डब्ल्यू० एच० हडसन ने भी 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर' में कहा है—"प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, अथवा चाहे कोई लेखक स्वयं इस विषय में सचेत हो या नहीं, प्रत्येक उपन्यास अत्यन्त आवश्यक रूप से जीवन के

1. उपन्यास : मूल लेखक—काशीनाथ राजवाड़े : अनु० ह० श्री० साने, पृ० 29
2. वही, पृ० 29
3. वही
4. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ० 125
5. डी० एच० लारेन्स : 'आखिर उपन्यास ही क्यों', 'पूर्वग्रह'—उपन्यास विशेषांक अंक 46-47 : 1981, पृ० 85

किसी एक निश्चित दृष्टिकोण अथवा जीवन की कुछ समस्याओं को प्रस्तुत करता है।'[1]

वस्तुतः उपन्यास की सारी प्रासंगिकता उसके 'समग्रताबोध' पर ही टिकी हुई है। समग्रताबोध से समन्वित होने के कारण ही मानव-जीवन, अथवा उससे सम्बद्ध स्थितियों, का कोई प्रसंग ऐसा नहीं, जिसे उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान को कलात्मकता प्रदान करने के लिए छोड़ देना आवश्यक हो। इस प्रकार हम पाते हैं कि उपन्यास अपने रचना-विधान में सृष्टि का-सा निर्बन्ध खुलापन लिए रहता है। जैसे सृष्टि, वैसे ही उपन्यास में हर वस्तु को जगह है। अपने इस सीमायुक्त खुलेपन से उपन्यास हृदय तथा मस्तिष्क की ऊंचाइयों, यानी भावना और विचार, दोनों स्तरों पर समान रूप से प्रभावित करता है। जबकि काव्य, नाटक अथवा कहानी, इन सारे माध्यमों में वस्तु और शिल्प के चयन की कुछ आधारभूत सीमाएं हैं। डी० एच० लारेन्स ने उपन्यास को 'जीवन का भास्वर ग्रन्थ' मानते हुए लिखा है कि—'पुस्तकें जीवन नहीं हैं। वे ईश्वर का प्रकम्पन्न-मात्र हैं। लेकिन उपन्यास एक प्रकम्पन के रूप में सम्पूर्ण मानव को जीवमान बना सकता है। कविता, दर्शन, विज्ञान या अन्य कोई भी पुस्तक, जो प्रकम्पन्न कर पाते हैं, उनसे वह उच्चतर प्रकम्पन्न है।'[2]

उपन्यास की अवधारणा के बीजतत्व के रूप में 'समकालीनता' को भूलना असम्भव है। अपनी उत्पत्ति से उसका सम्बन्ध वर्तमान में क्रियाशील सम्बन्धों का समुच्चय निर्मित करता या तोड़ता हुआ मनुष्य ही है। एक प्रकार से अपने समय में मनुष्य-विम्ब का निर्माण ही उपन्यास है। काल और भाषा की समस्याओं से जूझे बगैर इस मानव-बिम्ब का निर्माण कठिन है। स्मृति और कल्पना अतीत और भविष्य को वर्तमान के बिन्दु पर खींचती हैं और इस खिंचाव में ही महान् उपन्यास का निर्माण होता है।

विभिन्न विधायें उपन्यास में डूबकर या घुलमिलकर उसे आधुनिक जीवन का महाकाव्य बना देती हैं। एक अर्थ में वह समकालीनता का महाकाव्य हो जाता है।

आधुनिक युग में बहुभाषीय चेतना को उपन्यास का प्रमुख तत्व माना गया है। भाषा के हर स्तर पर प्रयोगी की पहचान को समझे बगैर मनुष्य को समझना कठिन है और मनुष्य को समझे बगैर उपन्यास को समझना। इसलिए भाषा के द्वारा उसमें त्रिकालिकता उत्पन्न होती है। काल और देश का बोध व्यापक और सूक्ष्म स्तरों पर उसी से

---

1. 'डायरेक्टली अर इनडायरेक्टली, एण्ड वेदर द राइटर हिमसेल्फ इज कान्शस आफ इट अर नाट, एवरी नावेल मस्ट नेसेसरिली प्रजेन्ट अ सर्टेन व्यू आफ लाइफ एण्ड आफ सम आफ द प्राब्लम्स आफ लाइफ।'

—डब्ल्यू० एच० हडसन : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ लिटरेचर, पेज-130-131

2. डी० एच० लारेन्स : 'सेलेक्टेड लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में 'ह्वाई द नावेल मैटर्स', पृ० 105

सम्भव है। इसलिए वह किसी क्षेत्र के आधार पर भी सार्वभौमिक होता है और सार्वभौमिक होकर भी एकदेशीय होता है, जिसे हम आंचलिक कहते हैं। वह उसकी बहुभाषिता और बहुआयामिता का बाह्यकरण है।

(ख) परिभाषा

परिभाषाएं कृतियों के आधार पर बनती हैं, कृतियां परिभाषाओं के आधार पर नहीं। जहां तक हिन्दी कथा साहित्य में 'आंचलिक उपन्यास' के चलन का प्रश्न है, 'मैला आंचल' की संक्षिप्त भूमिका के कारण, जिसमें कि 'मैला आंचल' को आंचलिक उपन्यास कहा गया, हिन्दी में 'आंचलिकता' को उपन्यास विधा की अन्तर्विधा मानकर आंचलिक उपन्यासों की एक अलग बिरादरी मानी जाने लगी। रेणु के उपन्यासों और अधिकांश कहानियों को आंचलिकता की परिभाषा के लिए आधारसूत्र मान लिया गया।

इस प्रकार, जहां तक हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में 'आंचलिक' विशेषण के एक अन्तर्विधा के रूप में मान्यता का प्रश्न है, रेणु के 'मैला आंचल' की भूमिका को आंचलिक साहित्य के प्रस्थापना-बिन्दु के रूप में लिया जाना अपरिहार्य ही मानना होगा। इससे पूर्व, हिन्दी उपन्यास की चर्चा या आलोचना के प्रसंग में, 'आंचलिक' विशेषण का प्रयोग इस रूप में कहीं नहीं देखमे में आता, जिसे कि 'आंचलिक साहित्य की प्रस्तावना का प्रस्थान-बिन्दु कहा जा सके। यद्यपि राजेन्द्रप्रताप सिंह और डॉ० स्वर्णकिरण ने शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' को पहली आंचलिक कृति माना है। डॉ० स्वर्णकिरण ने अपने 'आंचलिकता के अग्रदूत उपन्यासकार : शिवपूजन सहाय', लेख में लिखा है—'उपन्यासकार के रूप में केवल 'देहाती दुनिया' का सृजन कर शिवपूजन सहाय ने आंचलिकता के जो प्रतिमान स्थापित किये, वे कई दृष्टियों से ध्यातव्य हैं।'[1]

किन्तु इस प्रसंग में इस बात पर गहराई से विचार करना जरूरी होगा कि होने को तो 'मैला आंचल' से पूर्व नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' भी प्रकाशित हो चुके थे और डॉ० रांगेयराघव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'कब तक पुकारूं' भी, जिसमें कि करनटों के जीवन को उनके अपने परिवेश की क्षेत्रीयता के रंगों में ही चित्रित किया गया है—लेकिन जैसा कि पहले ही कहा, हिन्दी कथा साहित्य में 'आंचलिक साहित्य' की स्वतंत्र चर्चा तथा प्रस्थापना का सिलसिला 'मैला आंचल' के बाद ही प्रारम्भ हुआ, इसलिए 'देहाती दुनिया' को यदि पहला आंचलिक उपन्यास मान भी लिया जाए, तो भी 'आंचलिकता' की विशिष्टता के रेखांझनका श्रेय रेणु को ही है। डॉ० शंकरदेव अवतरे[2] के अनुसार—'देश के किसी अंचल का सामयिक चित्र उपस्थित करना इसकी सैद्धान्तिक दृष्टि है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए लोकगीत, लोक-गाथा, लोकाचार, लोकभाषा आदि की रंगत अपनानी पड़ती है। आंचलिक जीवन की परम्परागत पद्धति, तत्कालीन राजनीतिक मान्यताओं के प्रति जनजीवन की प्रतिक्रिया और सामा-

---

1. डॉ० स्वर्णकिरण : 'नई धारा', जुलाई 1964, पृ० 33
2. डॉ० शंकरदेव अवतरे : 'हिन्दी साहित्य में काव्यरूपों के प्रयोग', पृ० 184

जिक जीवन की यथार्थपरक झांकी उपस्थित करना इस प्रयोग की प्रक्रिया है।'

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार—'आंचलिक उपन्यास हम उसे कहते हैं, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण हो। आंचलिक उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन चित्रण में पायी जाती है।'[1] इस दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासकार एक ऐसे उपेक्षित, अविकसित तथा अनजाने अंचल को नायकत्व सौंपता है, जिसकी भौगोलिकता, संस्कृति, बोली, नैतिक-धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं, रहन-सहन-रीति-रिवाज और परम्परा तथा विश्वासों, सभी में वैशिष्ट्य हो। एक ऐसा वस्तुगत वैशिष्ट्य जिसके आधार पर आंचलिकता की पृष्ठभूमि वाले उपन्यासों को, हिन्दी के सामान्य उपन्यासों से, न सिर्फ कथावस्तु, बल्कि भाषा, शैली, शिल्प और रचना विधान की दृष्टि से भी एक अलग पहचान निर्धारित हो सके।

आंचलिक साहित्य के सन्दर्भ में शोधपरक लेखन के लिए चर्चित डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार आंचलिक उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है—'जिन उपन्यासों में स्थान-विशेष के सम्पूर्ण वातावरण का संश्लिष्ट और निष्कपट रूप से स्थानीय विशेषताओं के साथ चित्र प्रस्तुत किया जाए, उन्हें आंचलिक उपन्यास कहेंगे।'[2] आंचलिक उपन्यास की एक अन्य परिभाषा में भी कहा गया है—'उपन्यास जब क्षेत्र-विशेष, अंचल की लोक-संस्कृति से बंधकर स्थानिक रंगत से युक्त जीवन प्रस्तुत करता है, उसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा प्राप्त होती है।'[3]

उपरोक्त उद्धरण में 'स्थानीय रंगत से युक्त' से तात्पर्य आंचलिकता को प्रमुखता देना, अर्थात् आंचलिकता को ही आंचलिक उपन्यासों का आधारबिन्दु मानना ही हो सकता है, क्योंकि भाषा, शैली, शिल्प और दृष्टि में स्थानीयता की रंगत से युक्त उपन्यास आंचलिकता के सारतत्वों को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना कि सामाजिकता, वैयक्तिता या ऐतिहासिकता के अन्तःसूत्रों को। जबकि आंचलिक उपन्यासों में चूंकि अंचल को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त किया जाता है, इसलिए इनमें परिवेश की स्थानीयता और पारम्परिकताओं की एक विशिष्ट भूमिका स्वतः ही बन जाती है। अंचल की संस्कृति, वहां के निवासियों से रहन-सहन और प्रकृति आदि का सघनता और समग्रता में वर्णन होने से आंचलिक उपन्यास रूप और अन्तर्वस्तु, दोनों में एक भिन्न छवि निर्मित कर लेते हैं।

आंचलिक उपन्यासकार को अंचल से एक विशेष लगाव होता है। आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य ही आंचलिक जीवन-सत्यों को उनके नितांत नैसर्गिक तथा स्थानीय रूपाकारों में प्रस्तुत करना होता है। इन उपन्यासों में, अन्य प्रकार के उपन्यासों की

---

1. नन्ददुलारे वाजपेती : 'सारिका'—नवम्बर 1961, पृ० 91
2. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत : द्वितीय भाग, पृ० 433
3. शशिभूषण सिंहल : 'हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां,' पृ० 8

भांति, समस्याओं, परिस्थितियों तथा चरित्रों का चित्रण तो होता है, परन्तु आदमी ही नहीं, बल्कि उसके अंचल को भी समग्रता में वर्णित करने की ललक को किसी भी आंचलिक उपन्यास में पारदर्शी स्तर पर देखा जा सकता है। प्रकृति और मनुष्य एक-दूसरे से अविछिन्न होने की कैसी प्रतिच्छायाएं आंचलिक उपन्यासों में देखी जा सकती है, इसके लिए रेणु के 'परती परिकथा' को पढ़ जाना ही पर्याप्त होगा। 'परती परिकथा' के उदाहरण से स्पष्ट देखा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यास में अंचल के वर्णन की कितनी भूमिका हुआ करती है।

साहित्यकोश में आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में ये दो स्थापनाएं की गई हैं। —'आंचलिक उपन्यास में देश-काल, परिस्थिति और प्रकृति का चित्रण साधन रूप में न होकर, साध्य रूप में होता है।[1]'—कुछ उपन्यासों में किसी प्रदेश-विशेष का यथातथ्य बिम्बात्मक चित्रण प्रधानता प्राप्त कर लेता है, उन्हें प्रादेशिक या आंचलिक उपन्यास कहा जाता है। परन्तु ये उपन्यास भी सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते हैं और चारित्रिक के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि पात्रों के चरित्र-चित्रण को यथार्थता प्रदान करने के लिए ही उसकी बाह्य परिस्थिति को जीवन्त रूप में चित्रित किया जाता है।[2]

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का यह कहना कि आंचलिक उपन्यास सामाजिक या ऐतिहासिक ही होते हैं और चारित्रिक के अन्तर्गत आते हैं, एक सीमा तक बिलकुल तर्कसंगत ही कहा जाएगा, क्योंकि सामाजिकता-ऐतिहासिकता और चरित्र, ये उपन्यास के आधारभूत बिन्दु ही कहे जा सकने हैं, परन्तु चरित्र-चित्रण को अधिक महत्त्व बहुत कम आंचलिक उपन्यासों में दिया गया है। आंचलिक उपन्यासों में कई बार एक कथानक के स्थान पर कई कथानकों का संजोजन होता है, जिसके कारण कई चरित्रों और व्यक्तियों का प्रयोग होता है।

चारित्रिकता तो उपन्यासों में होगी ही, परन्तु वह मुख्य न होकर, आनुषंगिक होगी। उदाहरण के लिए नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' को लिया जा सकता है। वास्तव में 'रतिनाथ की चाची' में चरित्र-चित्रण के साथ-साथ आंचलिकता के तत्त्व भी प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। प्रायः सभी श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता को ही प्रमुखता प्रदान की गई है। उदाहरणस्वरूप 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' में आंचलिकता को लक्ष्य मानकर, सामाजिकता और ऐतिहासिकता के वृत्तांतों या परिप्रेक्ष्यों को उतने व्यापक रूप में नहीं उठाया गया है, जितना कि प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में। यही कारण है कि 'रेणु' के उपरोक्त उपन्यासों को आंचलिक तथा प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की संज्ञा दी गई है। आंचलिक उपन्यासों का स्वरूप सामान्य, सामाजिक या ऐतिहासिक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न होता है। अतः आंचलिकता को लक्ष्य मानने वाले उपन्यासों को न तो ऐतिहासिक उपन्यास ही कहा जा सकता है और

1. भारतीय साहित्य कोश : सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 80
2. साहित्यकोश भाग-1, सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृ० 144

न सामाजिक, इन्हें आंचलिक उपन्यास कहना ही उचित होगा।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह के अनुसार 'सामाजिक कथा-साहित्य के गठन में यदि बहु-जनहित में सापेक्ष संघर्षशील वर्गचेतना का प्रतिनिधि नायक होता है, तो आंचलिक कथा-साहित्य में सामूहिक जीवन का अंचल ही एक नायक का स्थान है लेता है और सामाजिक कथा में जन-यथार्थ समाजार्थिक संरचना से युक्तिसंगत होता है, तो आंचलिक कथा में जीवनानुभव जनसांस्कृतिक अर्थवत्ता से जुड़कर जीवन्त होता है।'[1]

आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में आंचलिकता दृष्टि नहीं, बल्कि भौगोलिक सीमा के भीतर के मानवीय अस्तित्व की सभी शर्तों का पर्याय है। सामाजिक यथार्थ के क्षेत्रीय रूपान्तरण को ही हम आंचलिकता नहीं कह सकते हैं, यद्यपि वह विविध बिम्बों या दृश्यों के माध्यम से अंचल-विशेषण के यथार्थ का जीवन्त प्रस्तुतीकरण भी होता है। 'आंचलिकता' उपन्यासों के माध्यम से परिभाषित होती रहती है। 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' के आधार पर निर्मित आंचलिकता की अवधारणा 'मैला आंचल', 'परती-परिकथा' के आधार पर विकसित अवधारणा से भिन्न है। इसलिए आंचलिकता की परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है कि 'अंचल-विशेष के जीवन का औपन्यासिक शिल्प में रचनात्मक रूपान्तरण ही आंचलिकता है।'

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कथा के सम्प्रेषण के लिए आंचलिक समग्रता का औपन्यासिक उपयोग ही आंचलिकता का प्रमुख आधार है। उपन्यास यदि उपन्यास के रूप में समग्रतः और खण्डतः, दोनों स्तरों पर मानव-जीवन का कथ्य ही है, तो आंचलिक उपन्यास पर भी यह निष्पत्ति पूर्णतः घटित होती है और इस दृष्टि से आंचलिक उपन्यास उपन्यास विधा का अविच्छिन्न अंग है; क्योंकि वह खण्डतः और समग्रतः उपन्यास है और जीवन की अवधारणाओं तथा वस्तु-तथ्यों के औपन्यासिक रचना-विधान की वो सारी अंतर्वृत्तियां, एक आनुपातिक अन्तर के साथ ही सही, आंचलिक उपन्यासों में भी उपस्थित मिलेंगी, जो कि उपन्यास को अंततः सामाजिक, ऐतिहासिक या चारित्रिक की कोटियों में रखने का आधार हो सकती हैं।

क्षेत्र और दृष्टि

'क्षेत्र' का अर्थ प्रायः स्थान या भूखण्ड से लिया जाता है। आंचलिक उपन्यास के सन्दर्भ में 'क्षेत्र' से तात्पर्य 'अंचल' होता है। एक ऐसा अंचल, जो अन्य किसी क्षेत्र से बिलकुल भिन्न विशेषतायें रखता हो। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि सिर्फ क्षेत्रीय भिन्नता ही आंचलिक उपन्यास के लिए पर्याप्त है, बल्कि वहां के निवासियों के रहन-सहन, संस्कार, आदतों में भी अन्तर होना आवश्यक है। उस क्षेत्र के निवासियों का रहन-सहन, भौगोलिकता और संस्कृति उसे किसी भी दूसरे क्षेत्र से स्पष्टतः अलगाती हो।

---

1. राजेन्द्र प्रसाद सिंह : 'मूल्यांकन' मार्च 1985, पृ० 22 : सं०—चन्द्रेश्वर कर्ण : सच्चिदानन्द धूमकेतु

डॉ० शिवप्रसाद सिंह के अनुसार—'क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं, जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई है, जिसके निवासियों के रहन-सहन, प्रथाएं, उत्सवादि, आदर्श और आस्थाएं, मौलिक मान्यताओं तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएं परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से इतनी भिन्न हों कि इनके आधार पर यह क्षेत्र या अंचल उसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों से एकदम अलग प्रतीत हो।'[1]

फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने 'परती परिकथा' के लिए जो क्षेत्र चुना है, वह उनके ही शब्दों में इस प्रकार है—'उत्तर नेपाल से शुरू होकर दक्षिण गंगातट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भूभाग ! लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।'[2]

अंग्रेजी में 'स्थानीय रंगत' और 'स्थलीय रंगत' के आधार पर उपन्यास के जो दो भेद किये हैं, वह वस्तुत: 'आंचलिक उपन्यास' के अन्तर्गत ही पर्यवसित हो जाते हैं। अंग्रेजी और रूसी आदि भाषाओं के क्षेत्र-विशेष की सांस्कृतिक, मानसिक, आर्थिक, मानवीय और भौतिक समग्रता को ध्यान में रखकर आंचलिक उपन्यास लिखे गए हैं। फाकनर ने दक्षिण अमरीकी अंचल पर 'सोल्डर्स पे' और शोलोखोव ने 'दोन नदी के किनारे' के आधार पर 'धीरे बहे दोन'-जैसा महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखा है। यदि किसी क्षेत्र की भौगोलिक बनावट दूसरे क्षेत्र से भिन्न हो, तो स्वाभाविक ही है कि भौगोलिकता में अन्तर होने की वजह से दोनों क्षेत्रों के निवासियों के रहन-सहन तथा उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों में भी अन्तर अवश्य होगा, परन्तु आंचलिक उपन्यासकार उन दोनों क्षेत्रों में केवल उसी को अपने उपन्यास का विषय बनायेगा, जो विशिष्ट हो, सामान्य नहीं।

जहां तक भौगोलिक अवधारणा का प्रश्न है, 'क्षेत्र' और 'अंचल' पर्यायवाची हैं, परन्तु व्यंजना में अन्तर है। आंचलिक उपन्यासों के विषय-क्षेत्र के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों ने उन्हें ही आंचलिक उपन्यास कहा है, जिनमें सिर्फ ग्रामीण अंचल का ही चित्रण है, लेकिन धीरे-धीरे नगर के किसी विशिष्ट क्षेत्र, जिस पर कि नागरी गतिविधियों का बहुत कम प्रभाव पड़ा हो; जैसे—गली, चौक या मुहल्ला को भी आंचलिक उपन्यासों के विषय-क्षेत्र में शामिल कर लिया गया। अमृतलाल नागर ने 'बूंद और समुद्र' की भूमिका में बताया है कि—'उपन्यास के क्षेत्र के रूप में मैंने लखनऊ और उसमें भी खासतौर पर चौक को ही उठाया है।'

इसके अलावा, जातियों, जनजातियों पर लिखे गये उपन्यास भी आंचलिक उपन्यास के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। जैसे—रांगेव राघव का 'कब तक पुकारूं,'

---

1. डॉ० शिवप्रसाद सिंह—'आंचलिकता या आधुनिक परिवेश'—'कल्पना', मार्च, 1965, पृ० 29
2. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० 9
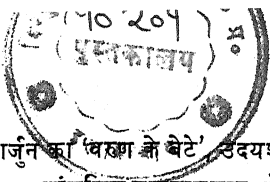
नागार्जुन का 'वरुण के बेटे', उदयशकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' आदि।

आंचलिक उपन्यासकार, क्षेत्रीय-वैशिष्ट्य को उसकी स्वाभाविकता और सम्पूर्णता में उभारने के लिए, क्षेत्र-विशेष की भाषा या बोली का यथोचित प्रयोग—जिस भाषा में वह उपन्यास रचना चाहता है, उसके साथ सामंजस्य बिठाकर सहजता और सुबोधता को बरकरार रखते हुए करता है। यहां तक कि कुछ उपन्यास केवल आंचलिक भाषा-प्रयोग के कारण ही आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में गिन लिये जाते हैं। हालांकि सिर्फ क्षेत्रीय भाषा-प्रयोग से ही उपन्यास आंचलिक नहीं हो जाता। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि क्षेत्रीय भाषा क्षेत्रीय वैशिष्ट्य को वर्णित करने में एक प्रमुख भूमिका निभाती है। रांगेय राघव आंचलिक उपन्यासों में भाषिक-संरचना की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उसे सुबोध बनाये रखने के लिए सावधानी बरतने को कहते हैं।

क्षेत्रीय संस्कारों की क्षेत्रीय बोली या शब्दावली में ही प्रभावी अभिव्यक्ति हो सकती है, यह तर्क देते हुए भी क्षेत्रीय शब्दों का हिन्दी के सामान्य स्वरूप के साथ सामंजस्य बिठाना आवश्यक होगा, क्योंकि अन्यथा लेखक की भाषा से बिलकुल अलग-थलग हो जाने पर भाव-सश्प्रेषण में बाधा पहुंच सकती है। सम्प्रेषण के प्रश्न को हाशिये पर डालकर क्षेत्रीय बोली या शब्दों का प्रयोग करना रचना को क्षति ही पहुंचा सकता है।

क्षेत्रीय बोली के प्रयोग में सावधानी बरते जाने के प्रसंग में डॉ० शम्भू सिंह का कहना है कि—'स्थानीय बोली का प्रयोग आंचलिक उपन्यास में दोषपूर्ण नहीं है, लेकिन लेखक को इसके प्रयोग में सीमा का ध्यान रखना चाहिए और यह सीमा है कि लेखक आंचलिकता की सुरक्षा करते हुए अपनी कृति को पाठकों के लिए दुर्बोध न बना दे।'[1]

क्षेत्रीय विशेषता उभारने के आग्रह के फलस्वरूप आंचलिक उपन्यासकार को न तो चरित्र-चित्रण के लिए विशेष अवकाश मिलता है और न कथा-संयोजन का। वह मनुष्यों के सुख-दुःख और समस्याओं को उनकी वैयक्तिकता में न उठाकर, क्षेत्रीय विशेषता को बनाये रखकर सामूहिक रूप में प्रस्तुत करता है। इसलिए अनेक बार उसके चरित्र-चित्रण में से तर्क व्यक्ति और क्षेत्र की भूमिका को पूरी तरह अलगाना कठिन हो जाता है। 'क्षेत्र' की इस भूमिका के कारण ही आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्रीयता की एक ऐसी सहभागिता बन जाती है, जिसे चरित्रों में गुंथा हुआ देखा जा सकता है। चरित्र और क्षेत्र के तंतुओं का यह अन्तर्मंथन ही आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्रीयता की भूमिका को अत्यन्त महत्वपूर्ण बना देता है।

स्वतंत्रता के बाद सरकार ने 'गांवों की ओर चलो' का लक्ष्य निर्धारित किया, इसलिए लोगों ने ग्रामीण जीवन पर ध्यान केन्द्रित किया, ऐसा कहना लेखकों के साथ अन्याय होगा। वस्तुतः अंचल या क्षेत्र की आर्थिक-सामाजिक व शैक्षिक विषमताओं और विवशताओं को 'नगर' की तुलना में देखने के कारण अंचल की विशिष्टता, उसकी समस्याओं और गरीबी का जो बिम्ब बनता है, उससे साहित्य और समाज के नागरबोध

1. डॉ० शम्भू सिंह : रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास', पृ० 21

की प्रतिक्रिया एवं अनुभव सम्पन्न यथार्थता के प्रति आग्रह के कारण यह दृष्टि विकसित हुई कि अंचल-विशेष के आधार पर वे सामाजिक जीवन का जो सच बयान कर सकते हैं, वह 'नकली जिन्दगी' या कि जीवन के कृत्रिम ब्यौरों से सम्भव नहीं है। जीवन के इस यथार्थ के लिए उपन्यास के शिल्प और यथार्थ को उपस्थित ही नहीं, बल्कि निर्मित करने वाली भाषा में एक प्रकार का तनाव और संतुलन भी बनता है। आंचलिक उपन्यास का तात्पर्य दृष्टि नहीं, बल्कि रूप और वस्तु की आंचलिकता से होता है। 'मैला आंचल' या 'बलचनमा' जिस विषमता, हाहाकार और शोषण से सम्बद्ध अत्याचार का बयान करते हैं, वह लोकजीवन के राग में रचे-बसे होने के कारण मानवीय संवेदना को 'अंचल' के माध्यम से मानवीय बना देता है। यथार्थ के प्रति हमारे देखने का एक प्रामाणिक आधार प्रदान करने के कारण वह अधिक ठोस होता है।

आंचलिक उपन्यासों में लेखक की दृष्टि कथा संगठन तथा चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अंचल को समग्रता में अभिव्यक्त करने की होती है। समग्रता में अभिव्यक्त करने से तात्पर्य उस अंचल की सम्पूर्ण विशेषताओं को प्रकाश में लाना है। अर्थात् अंचल के लोगों के रहन-सहन, बोली, संस्कार, मेले, आर्थिक कठिनाइयों, समस्याओं तथा भौगोलिक चित्रण ही आंचलिक उपन्यासकार का उद्देश्य होता है। इस सन्दर्भ में डॉ० देवेश ठाकुर का कहना है—'इन सभी विद्वानों की दृष्टि में 'समग्रता' का अर्थ उस अंचल-विशेष के अच्छे-बुरे दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति से रहा है। आंचलिक उपन्यास अंचल-विशेष का दर्पण प्रस्तुत करे, उसमें हम वहां के जन-जीवन को, वहां की प्रकृति को, वहां की वेशभूषा और भाषा को पूरे 'डिटेल' में देख सकें—यही इन विद्वानों का आशय रहा है और उसके लिए उन्होंने 'समग्रता' शब्द को प्रयुक्त किया है।'[1]

चूंकि लेखक की दृष्टि अंचल को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करने की रहती है, इसलिए उसका असर शिल्प-संगठन और भाषा पर भी पड़ता है। परिणामस्वरूप उपन्यासों के अन्य प्रकारों से उसका शिल्प भी भिन्न होता है तथा भाषा में भी आंचलिकता का पुट मिलता है और इस प्रकार उपन्यास का सम्पूर्ण ढांचा ही बदल जाता है। बहुभाषिता को उपन्यास के लिए अनेक आलोचक गुण मानते हैं। आंचलिक जीवन अपनी बोली की ताजगी और यथार्थ की निर्मिति के कारण उपन्यास के सामान्य वस्तु संगठन से भिन्न होता है। आंचलिक उपन्यास में प्रामाणिक चित्रात्मकता होती है, और ऐसा उन शब्दों से ही सम्भव है, जिन्होंने इस यथार्थ को आकार दिया। इस प्रकार 'आंचलिक जीवन' का प्रतिबिम्बन 'आंचलिक उपन्यास' का कारक कारण बन जाता है।

उपन्यास-मात्र में आंचलिकता के तत्त्व थोड़ी-बहुत मात्रा में आना अलग बात है। जैसा कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुआ है। आंचलिकता उनके उपन्यासों में ग्रामीण वातावरण में सजीवता और यथार्थता उत्पन्न करने लिए के प्रयुक्त हुई और समस्याओं को प्रस्तुत और हल करने का माध्यम बनी है, साध्य नहीं। यही कारण है कि प्रेमचन्द की दृष्टि आंचलिक न होकर अधिक व्यापक और मानवीय है, किन्तु यदि उपन्यासकार

1. डॉ० देवेश ठाकुर : 'मैला आंचल की रचना-प्रक्रिया', पृ० 15

की दृष्टि ही आंचलिक या अंचलबद्ध हो जाय, इससे उसकी सीमा या असामर्थ्य ही उजागर होता है।

सीमित दृष्टि होने से आंचलिक उपन्यासों की एक बहुत बड़ी कमी यह दिखी कि अंचल को सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के साथ उभारने की कोशिश में लेखक कई बार नितान्त निजी और भौगोलिक सीमा में बांध देता है। रचना सिर्फ अपनी ही भौगोलिक सीमा, विशिष्ट संस्कृति और विशिष्ट जनसमुदाय की सीमाओं में ही सिमट जाती है। अन्य क्षेत्रों से उसका सम्पर्क कट जाता है। जीवन की व्यापकता और गहन चित्रण का अभाव रचना के सार्वदेशिक बनने में बाधा पहुंचाता है। आंचलिक दृष्टि उपन्यासकार को अंचल से बाहर की समस्याओं और गतिविधियों से पूरी तरह काटती है। उसकी समस्याएं, विशिष्टताएं मानव-मात्र की महसूस न होकर उस विशिष्ट क्षेत्र के निवासियों तक सीमित प्रतीत होती हैं। अतिआग्रहपूर्ण आंचलिक दृष्टि के कारण सार्वदेशिकता का अभाव खटकने लगता है, परन्तु ऐसा सभी आंचलिक उपन्यासों के साथ नहीं है।

आंचलिक ही नहीं, सभी प्रकार के उपन्यासों का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह पाठक की चेतना का विस्तार व उसमें मानवीय दृष्टि का प्रसार करे, तभी रचना सार्थक हो सकती है। रचना-मात्र से जिस व्यापक मानवता और समाज में सही दृष्टि और समझ उत्पन्न करने वाली चेतना की अपेक्षा की जाती है, वह आंचलिक उपन्यासों में अत्यन्त सीमित और संकुचित होती है। इसीलिए आंचलिक उपन्यास जब-तब आलोचना का शिकार बनते रहे हैं और उन्हें सार्वदेशिकता का विरोधी ठहराया जाता रहा है। आंचलिक उपन्यासों की सीमित दृष्टि को लेकर यह शिकायत अनेक आलोचकों को है। डॉ० रणवीर रांग्रा की दृष्टि में—'आंचलिक उपन्यास विघटन-युग की उस चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसमें अपनी जाति-वर्ग, धर्म-संस्कृति के प्रति कट्टरता की चरम सीमा को छूने वाला मोह बढ़ जाता है, अपनी अंचल-विशेष की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात का भाव भर जाता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार की दृष्टि में संकोच की कोई सीमा नहीं। राष्ट्र से प्रदेश, प्रदेश से अंचल, अंचल से जाति, जाति से वर्ग-विशेष तक सिकुड़ता-सिमटता उपन्यास अंततः अपनी तंग सीमाओं में यहां तक बंध सकता है कि उसकी सम्प्रेषणीयता उस अंचल-विशेष के पाठकों तक (यदि कोई हो, तो) ही सीमित रह जाये; दूसरे शब्दों में सार्वकालिक और सार्वभौम उपन्यास का विलोम बनकर रह जाये।'[1]

इस प्रकार की अलोचनायें, एक सीमा तक ही सही, अपनी जगह सही भी हैं। इन्हीं आलोचनाओं के कारण कुछ उपन्यासकार अपने आंचलिक उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास कहने से हिचकते रहे। फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि इन उपन्यासों ने उपन्यास के बहुआयामी व्यक्तित्व का विकास किया है। आंचलिक उपन्यासकार अंचल को बहुत देख-परखकर सम्पूर्ण आस्था के साथ उसका चित्रण करता है। उपन्यासों में आंचलिकता का प्रमुखता से वर्णन होने से हमें अपने देश के अनेक अंचलों

1. समसामयिक हिन्दी साहित्य : 1967, पृ० 208

के बारे में सुविस्तृत और प्रामाणिक जानकारी रोचक तरीके से प्राप्त होती है। डॉ० इन्द्र-प्रकाश पाण्डेय का मत है कि—'हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासों ने एक नया आयाम जोड़ा और भारतीय जीवन को अधिक निकटता से प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया। कुछ आंचलिक उपन्यास कला की दृष्टि से भी श्रेष्ठ सिद्ध हुए और इस प्रकार औपन्यासिक कला को भी आगे बढ़ाया और नयी संभावनाएं उत्पन्न कीं।'[1]

यदि लेखक अपनी आंचलिक दृष्टि को अधिक व्यापक तथा मानवीय तथा उस भाषा में भी ठेठ आंचलिक शब्दों का परिष्कार करके (क्षेत्र-विशेष की आंचलिकता को बिना क्षति पहुंचाए) सर्वसाधारण के लिए सुबोध बनाने की चेष्टा करे, तो आंचलिक उपन्यासों का जादू चरमराने लगता है, क्योंकि आंचलिकता सार्वदेशिकता और खड़ी बोली के एकतान भाषिक प्रवाह के समांतर खड़ी होकर ही अपनी सहज, लौकिक और स्वतःसम्पूर्ण सौन्दर्य का आकर्षण उत्पन्न कर सकती है। ऐसा करके वह साहित्य और भाषा को समृद्ध करती है। श्री विजय देवनारायण साही ने 'अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग और आंचलिकता की कुछ समस्यायें' लेख में आंचलिकता की दृष्टि सम्बन्धी जो निष्कर्ष निकाला है, उसके आधार पर उन्होंने आंचलिकता के कई स्तर और भेद किए हैं। मसलन 'महानगरीय आंचलिकता' या आजकल के उदीयमान 'उच्च हिन्दुस्तानी अंग्रेजी समुदाय की आंचलिकता'[2] साही का एक लम्बा उद्धरण देकर, अपनी बात स्पष्ट करना उपयुक्त होगा।

'आंचलिकता परिभाषा से ही अपने से भिन्न न केवल समाज में, बल्कि साहित्य में भी, मुख्यधारा की अपेक्षा रखती है। जब तक जीवन और साहित्य में, परिचित, केन्द्रस्थ और खुला हुआ एक ऐसा प्रवाह न हो, जिसके मुकाबले में आंचलिकता अपरिचित, अनोखी, दूर की, कटी हुई और अपने आप में बन्द या स्वतः सम्पूर्ण न जान पड़े, तब तक उसकी छविमयता, रमणीयता और ताजगी का मजा ही नहीं आ सकता। बात सिर्फ सामाजिक या भौगोलिक अंचल की नहीं है। आंचलिकता 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की तरह इतिहास के अंचल की भी हो सकती है। आंचलिकता दृष्टि और वर्णन-शैली में शब्दों के आपसी रिश्ते में निहित है।'[3]

(ग) आंचलिकता और सार्वदेशिकता

खाई, चेतना की स्वतन्त्र सत्ता, यथार्थ और छविमयता को विजयदेव नारायण साही आंचलिकता की अवधारणा के बीजतत्व मानते हैं। इन तत्वों में खाई और चेतना की स्वततंत्र सत्ता की कल्पना सार्वदेशिकता के अवबोध के बगैर सम्भव ही नहीं है। आंचलिक उपन्यासों में स्वायत्त दुनिया सम्भव ही इसलिए होती है कि एक दुनिया ऐसी है, जिसमें सब-कुछ विराटता में घुल जाता है। इकाइयों की पहचान घुलकर एक रेखा

1. डॉ० इन्दुप्रकाश पाण्डेय, 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-तत्व' : पृ० 13
2. डॉ० विजयदेव नारायण साही : छठवां दशक, पृ० 255
3. वही, पृ० 224

या वृत्त का आभास देने लगती है। इस सन्दर्भ के कारण ही आंचलिक उपन्यासों में एक प्रकार की छविमयता—चौखटे में संस्थित चित्र की तरह उत्पन्न होती है। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। वह यह कि भाषा का उपयोग या आंचलिक पहचानों के भाषिक प्रयोग भाषा के एकतान या स्वतंत्र सत्ता के प्रति चेतना के कारण ही सम्भव हो पाते हैं। इसलिए रचना के तर्क से यही कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासों में सार्वदेशिकता एक वास्तविकता की तरह विद्यमान रहती है, जो उपन्यास की सृष्टि के समान्तर सृष्टि का बोध देती हुई उपन्यास को ठोसपन व सम्पूर्णता प्रदान करती है।

आंचलिक उपन्यासों में द्विभाषिकता या बहुभाषिकता के कारण यथार्थ का दोहरा रूप सदैव रचना में लिपटा रहता है, जो कथा के प्रवाह को कालक्रमिकता, व्यापकता और विशिष्टता के स्तर पर तोड़ता है। इससे विशेष प्रकार का आकर्षण उत्पन्न होता है। इस प्रकार का प्रयोग जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द ने भी किया है, लेकिन एक ही दो कहानियों में। प्रेमचन्द के बाद आंचलिक उपन्यासकारों ने द्विभाषिकता के साथ-ही-साथ खड़ी बोली हिन्दी में आंचलिक शब्दावली के माध्यम से यथार्थ का वैविध्यपूर्ण और आकर्षक रूप प्रस्तुत क्रिया, जिसमें पूरा अंचल एक प्रकार की स्वायत्त दुनिया में बदलता है। इस बदलाव से वह मानवीय नियति का ऐसा साक्षात्कार कर सकने में समर्थ होता है, जो उसे मानवीयता के तर्क से सार्वदेशिक बना देती है। सार्वदेशिकता अमूर्तता के समुच्चय का ऐसा प्रत्यय है, जो सार्वदेशिकता की अवधारणा की सामान्यीकृत प्रातिनिधिकता पर निर्भर है। जो विशेषीकरण के बजाय सामान्यीकरण को महत्व देती है, परन्तु सामान्यीकरण से आश्चर्यजनक प्रकार की एकरसता उत्पन्न होती है, जिसे तोड़ने के लिए गल्पगति में बाधा या आक्रमता उत्पन्न की जाती है। कथाओं के समान्तर कथाएं प्रस्तुत की जाती हैं, अनेक कथायुक्तियों का आश्रय लेकर विशेषीकरण की स्थितियां, दृश्य निर्मित करने पड़ते हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा के उपन्यास इसके प्रमाण हैं।

आंचलिक उपन्यासकारों में रेणु ने 'मैला आंचल' में इन्हीं कथायुक्तियों से सामान्यीकरण का कार्य लिया है, जिससे एक स्तर पर सार्वदेशिकता का निर्माण होता है। नागार्जुन के 'बलचनमा' या 'रतिनाथ की चाची' में अत्याचार, अन्याय क्या सार्वदेशिकता का निर्माण नहीं करते हैं? मार्क्सवादी दृष्टि से वर्गबद्ध समाज या किसी भी दृष्टि से मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किए जाने वाले अमानुषिक क्रूरताओं का जीवन्त दृश्य अंचल विशेष की कथा-मात्र बनकर उपन्यास हो ही नहीं सकता है। उपन्यास विधा का तर्क ही उसे एक ऐसे 'सन्देश' में बदलता है, जिससे आंचलिकता माध्यम में बदल जाती है। वह सन्देश उसके साथ ही सम्प्रेषित हो सकता है, अन्य किसी और तरीके से नहीं। इसलिए यह आरोप लगाना कि आंचलिकता 'दृष्टि-संकोच' का लक्षण है, रचनाकार के लक्ष्य पर सन्देह करना है। रचना के तर्क से अनुभूत वास्तविकता को अमूर्तताओं के खतरे से बचाने का आंचलिकता एक मार्ग भी है।

जहां आंचलिकता का प्रयोग ध्यानाकर्षण या चौंकाने की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है, वहां रचना में संवेदना और विचार या अनुभव के अपव्यय की प्रवृत्ति पैदा

होती है। जबकि आंचलिक उपन्यास का लेखक मनुष्य को उसके क्षेत्रीय परिवेश के बीच भी सामाजिक रूप में परिभाषित करके सार्वदेशिकता के सामान्य भ्रमों को तोड़ता भी है, क्योंकि उसकी परिभाषा सार्वदेशिकता के तर्क से उत्पन्न कई निषेधों के प्रतिकार में बनती है। आंचलिकता या क्षेत्रीयता का आग्रह न होना ही, सार्वदेशिकता के होने का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

देश-काल के प्रत्यय भी अन्ततः संवेदना से निबद्ध हैं, इसलिए संवेदना के धरातल पर गहरी रचनाएं स्वतः ही देशकाल के वृहत्तर आयामों से जुड़ जाती हैं। संवेदन की यह गहराई ही आंचलिकता को सार्वदेशिकता का विलोम नहीं बनने देती। कहना आवश्यक नहीं होना चाहिए कि संवेदन दृष्टि-सापेक्ष ही हो सकता है। इस सन्दर्भ में यहां, सार्वदेशिकता के निर्धारण के प्रसंग में, ये दो उद्धरण उपयोगी सिद्ध होंगे—'रचनाकार के पास सतह के उस पार देखने वाली नजर है, तो वह खण्ड में ब्रह्माण्ड के दर्शन कर सकता है। यह अकारण नहीं है कि देश की विभिन्न भाषाओं में एक-दूसरे से बहुत हद तक बेखबर रचनाकार अपने-अपने अंचलों की जनता के जीवन की, उपन्यास में पुनर्रचना करते हुए भी सम्पूर्ण देश की जनता की नियति को तराश रहे हैं।'[1]—'आंचलिक रचना भले ही सीमित क्षेत्र से सम्बद्ध हो, पर प्रभाव की दृष्टि से वह सार्वजनीन हो सकती है, बशर्ते उसका स्रष्टा वैसी प्राणवत्ता व अतल-स्पर्शी सूक्ष्म दृष्टि रखता हो तथा उसके विचारों में गरिमा और कला में सौष्ठव हो।'[2]

सार्वदेशिकता और आंचलिकता, 'भाषा के एकतान प्रवाह' और आंचलिक शब्दावली के बावजूद लगभग पर्याय हो सकते हैं। 'मैला आंचल' में बामनदास की मृत्यु एक राष्ट्रीय प्रश्नचिह्न है, जिसका मेरीगंज से भी उतना ही मतलब है, जितना हिन्दुस्तान से। राष्ट्रीय प्रश्नों का उत्तर आंचलिक उपन्यासों में भी दिया जाता है, लेकिन आंचलिक प्रश्न आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय हों ही। रेणु नागार्जुन से इसीलिए बड़े उपन्यासकार हैं, चूंकि 'मैला आंचल' की अन्तर्निहित प्रतीकात्मकता उसे राष्ट्रीय बना देती है। आंचलिकता के आईने में सार्वदेशिकता की छाया ने ही उसे रचनात्मक सनातनता प्रदान कर दी है। अस्तु निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जहां परिवेश और आंचलिकता की उपन्यास को संवेदन, विचार और सामाजिक प्रासंगिकता को गहराई और विस्तार देने में सकारात्मक भूमिका हो, वहां सार्वदेशिकता के विरोध में नहीं देखा जा सकेगा, क्योंकि अंततः, खास तौर पर साहित्य में, सार्वदेशिकता की अवधारणा भी सिर्फ

---

1. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के रूसी भाषा-केन्द्र में भारतीय और रूसी सोवियत साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के विषय पर आयोजित गोष्ठी के अवसर पर 2-3-87 को पठित उद्घाटन-भाषण का सारांश।
2. 'हिन्दी साहित्य कोश' भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली) पृ० 95
सम्पा०—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० रघुवंश (संयोजक)।

भौगोलिक नहीं मानी जा सकती। जैसा कि इससे पूर्व भी कहा गया कि सार्वदेशिकता से अमूर्तता के समुच्य का प्रतीकन या प्रत्ययीकरण ही होता है, आंचलिकता के तत्वों को भी हमें इसी निकष पर देखना होगा। मनुष्य एक सार्वदेशिक प्रत्यय भी है, इसीलिए अगर आंचलिकता भी मनुष्य की स्थिति और उपस्थिति को ही निरूपित करने का निमित्त हो, तो इसे मानवीय तत्वों की सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता के विरोध में देखना जरूरी नहीं होगा। □

उपन्यास का रचना-विधान

(क) पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि

उपन्यास की वस्तु को उद्देश्य, या दृष्टिकोण के अनुरूप भाषा-शिल्प-द्वारा कलात्मक ढंग से सुनियोजित और सुव्यवस्थित रूप देना ही उपन्यास का रचना-विधान कहलाता है।

उपन्यास के रचना-विधान के सभी अंगों में उद्देश्य की अनुरूपता की आवश्यकता होती है। उपन्यासकार के लिए उद्देश्य या दृष्टिकोण ही साध्य है। भाषा, शिल्प, रूप यहां तक कि वस्तु भी उद्देश्यपूर्ति के ही साधन हैं। उद्देश्य मनोरंजनात्मक और उपदेशात्मक भी हो सकता है और अनुभवों का रूपान्तरण भी हो सकता है। उद्देश्यों की इन स्थितियों ने उपन्यासों के स्वरूप को विकसित करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यासकार सर्वप्रथम अपने उद्देश्य या दृष्टिकोण के अनुसार विषयवस्तु का चुनाव करता है, फिर उसके रूप की अवधारणा कर, भाषा-शिल्प के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति देता है। हालांकि भाषा की भूमिका का प्रारम्भ तो विषयवस्तु के आकल्पन से भी पहले उद्देश्य या दृष्टिकोण निश्चित करने में ही हो जाता है, क्योंकि भाषा के बिना तो अबधारणा ही सम्भव नहीं। समस्त ज्ञान-विज्ञानों के मूल में अवधारणा ही केन्द्रीय महत्त्व रखती है और रूप हो, या वस्तु, शैली हो या शिल्प, कल्पना हो, या अनुभव, किसी की भी अवधारणा भाषा में और भाषा से ही सम्भव हो सकती है। भाषा वस्तु की संकल्पना को भी आवश्यक है और विस्तार को भी।

चूंकि उपन्यास एक सुविस्तृत रचना है इसलिए इसके रचना-विधान में अतिरिक्त सतर्कता और कौशल की आवश्यकता पड़ती है। उपन्यासकार को रचना में सुसंबद्धता बनाये रखने के लिए अनावश्यक विस्तार से बचना चाहिए, चाहे प्रसंग कितना भी रोचक क्यों न हो। क्योंकि उपन्यास-रचना में ऐसे अनेक प्रसंग व स्थितियां आ सकती हैं, जब लेखक उनका चित्रण करने में अधिक रमने लगे या बहकने लगे, लेकिन लेखक का स्वयं पर नियन्त्रण होना जरूरी है। लेखक को वर्णन, अनुभव और कल्पना के उन्हीं अंशों को उपन्यास में स्थान देना चाहिए, जो उपन्यास के उद्देश्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। यही सुझाव तोलस्ताय भी देते हैं—

'यदा-कदा कोई व्यक्ति इतना दिलचस्प जान पड़ता है कि पूरा अध्याय उसे

समर्पित कर दिया जाए, परन्तु यहां आवश्यकता होती है कि अपने को काबू में रखा और रोका जाए। यह अध्याय कितना ही दिलचस्प क्यों न हो, परन्तु कलाकार की चेतना को उसे ऐसा नहीं करने देना चाहिए, नहीं तो विशाल अपवृद्धि का जमाव हो जायेगा और यद्यपि यह चीज बढ़िया हो सकती है मगर होगी यह अपवृद्धि ही। यहां कलाकार को अपने कलात्मक विवेक, अपनी सीमा-चेतना, विन्यास-चेतना का पालन करना चाहिए।'[1]

वस्तु के साथ ही कृति के आकार-प्रकार का एक अनुमान भी उपन्यास का आवश्यक पक्ष है, क्योंकि संक्षिप्ति अथवा विस्तृति का उपन्यास के रचना-विधान के सभी पहलुओं से गहरा सम्बन्ध होगा। आरम्भ और अन्त परस्पर निबद्ध हैं, जोकि कृति के रूपाकार से भी अवधारित होते हैं। केन्द्रीयता का सवाल भी इसी से जुड़ा है। वस्तु की अवधारणा से ही रचना-विधान की अवधारणा भी तय होगी, और तब आरम्भ, केन्द्रीयता अथवा समाप्ति के मामले में भी रचना-विधान की अवधारणा साथ-साथ चलेगी।

हेनरी जेम्स रोचक समाप्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं, तो मार्टिन टर्नेम 'नॉवेल इन फ्रांस' में 'केन्द्रीयता' को उपन्यास का सर्वप्रमुख गुण मानते हैं। 'केन्द्रीयता' की अवधारणा अनुभव और वस्तु, दोनों स्तरों पर महत्वपूर्ण है।

परिवर्तन प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया है। युगीन परिवर्तन का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की भांति साहित्य पर भी पड़ता है। उपन्यास साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। इसके रचना-विधान में भी क्रमिक परिवर्तन और विकास होता रहता है। उपन्यास के रचना-विधान की अन्तःप्रक्रिया में परिवर्तन और विकास उपन्यासकार के उद्देश्य का दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से ही होता है। रचना-विधान में विकास और परिवर्तन उपन्यास के लचीले स्वरूप के कारण ही सम्भव होता है। उपन्यास में रचना-विधान के अंगों यथा-रूप, वस्तु, भाषा, शिल्प सभी स्तरों पर परिवर्तन होता है। उपन्यास के विकासात्मक इतिहास से इस तथ्य की पुष्टि होती है। रूप के परिवर्तन के विषय में ई० एम० फोर्स्टर ने कहा है—'फॉर्म इज नॉट ट्रेडीशनल। इट ऑल्टर्स जेनरेशन टू जेनरेशन।'[2]

इसी प्रकार तॉलस्ताय भी रूप की परिवर्तनशीलता को स्वीकार करते हुए उसका कारण उपन्यासकार के द्वारा किए गए निजी प्रतिभा के प्रयोग को मानते हैं—'आई थिंक दैट एव्री ग्रेट आर्टिस्ट नेसेसरीली क्रिएट्स हिज ओन फॉर्म ऑलसो।'[3]

मौलिकता और रोचकता वस्तु के प्रधान गुण होने से उपन्यास की वस्तु में नित-नूतन परिवर्तनशीलता देखने को मिलती है। कभी-कभी उपन्यासकार पहले से वर्णित कथावस्तु उठाता तो है, परन्तु उसमें भी कुछ-न-कुछ फेर-बदल करता ही है। वस्तुगत परिवर्तन के इस उपक्रम को अनेक उपन्यासों में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

भाषागत परिवर्तन मानव-समाज की बोलचाल की भाषा में भी देखा जा सकता

---

1. तोलस्तोय : लेखन कला और रचना कौशल, पृ० 260
2. ई० एम० फोर्स्टर : आर्ट फार आर्ट्स सेक : टू चियर्स फार डेमोक्रेसी, पृ० 103
3. तोलस्ताय : नावलिस्ट आन द नॉवेल्स, पृ० 265

है, और चूंकि साहित्य का मनुष्य तथा समाज से अन्यतम सम्बन्ध है, अतः भाषागत परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता ही है। उपन्यास के अलग-अलग पात्रों तक में अनेक भाषागत परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। भाषागत परिवर्तन पूरी संरचना का हिस्सा होता है। भाषा के एकतान प्रवाह की सृजनशील विभिन्नताओं के प्रयोगों से उपन्यासों में चारित्रिक विशिष्टता और संवेदनात्मक कसाव तथा गहराई पैदा की जाती रही है, और स्थानीय रंगतों के प्रयोग से आंचलिकता भी, जिसे विजयदेवनारायण साही 'सिल-वटों वाली भाषा' कहते हैं।

शिल्प के क्षेत्र में भी नये-नये प्रयोग होते रहे हैं। कभी तो उपन्यास के उद्देश्य तथा विषय के अनुरूप शिल्प-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है और कभी पौराणिक विषय वस्तु को वर्तमान युग के संदर्भ में प्रासंगिक बनाने के लिए भी शिल्प में अभिनव-प्रयोग की या कभी उपन्यास में कलात्मकता उत्पन्न करने के लिए भी शिल्प-परिवर्तन करना पड़ता है। मोहन राकेश के अनुसार प्रचलित शिल्प के प्रति असन्तोष, या शिल्प के रूढ़ प्रयोगों से मुक्ति पाने, के लिए भी उपन्यासकार शिल्प में परिवर्तन करता है। उनके अनुसार—'लेखक यदि रचना का स्वयं पाठक बना रहता है, तो उसका असंतोष ही (पुराने या परम्परागत शिल्प के प्रति) उसे अभिव्यक्ति के नये आयामों को छूने की ओर प्रवृत्त करता है।'[1]

डॉ० जवाहरसिंह के अनुसार विषयवस्तु के एक होने पर भी शिल्पगत भिन्नता के कारण विधागत भिन्नता दृष्टिगोचर होती है—'सब कुछ समान होने पर भी, शिल्प की भिन्नता के कारण, एक ही विषय-वस्तु कहीं नाटक के, रूप में दिखाई देती है, कहीं उपन्यास, कहानी या महाकाव्य के रूप में।'[2]

वस्तुतः शिल्प और विषय-वस्तु को अलगाकर देखने से कठिनाई पैदा होती है। शिल्प का रचना में अलग से दिखाई पड़ना दोष है न कि गुण। किन्तु विषयवस्तु एक होने पर भी विधागत भिन्नता में शिल्प की ही भूमिका प्रमुख नहीं है, वरन् उद्देश्य-उपन्यास रचना है, या महाकाव्य, या नाटक या कहानी, इस प्रश्न से भाषिक रचाव और रूप में भी अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् विधागत भिन्नता उत्पन्न करने में शिल्प, भाषा, उद्देश्य, रूप, सभी की भूमिका महत्वपूर्ण है। इन अंगों के प्रयोग में भिन्नता या अन्तर का प्रभाव सिर्फ विधागत भिन्नता तक ही सीमित नहीं है, वरन् एक ही विधा के अनेक प्रकारों में भी यह भिन्नता देखी जा सकती है। उपन्यास के प्रकारों—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक या आंचलिक आदि—में रचना-विधान के अंगों के प्रयोग की भिन्नता को परिलक्षित किया जा सकता है।

विद्वानों में इस बात को लेकर प्रायः मतभेद रहा है कि उपन्यास के लिए वस्तु अधिक महत्वपूर्ण है, या शिल्प। शिल्प की भूमिका निर्धारित करते हुए, जैनेन्द्र कहते हैं कि—'शिल्प यदि आवश्यक है, तो इसलिए कि इससे किनारे बनते हैं, नदी का पानी

---

1. मोहन राकेश : 'एक और जिन्दगी' : भूमिका
2. डॉ० जवाहरसिंह : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ० 33

नहीं बनता।'[1]

अर्थात् उपन्यास के रचना-विधान में शिल्प ही सब कुछ नहीं है। शिल्प द्वारा उपन्यास का रूपाकार निश्चित होता है, विषय-वस्तु ('पानी' से जैनेन्द्र जी का अभिप्राय 'विषय-वस्तु' ही है) का निर्माण नहीं होता। और यह भी नहीं होता कि उपन्यासकार पहले शिल्प निश्चित करे, तत्पश्चात् शिल्प के अनुकूल विषय-वस्तु का चयन करे। उपन्यासकार पहले विषय-वस्तु का चुनाव करके ही शिल्प के विषय में सोचता है।

जैनेन्द्र जी की भांति उपेन्द्रनाथ अश्क भी वस्तु के पश्चात् ही शिल्प का स्थान निर्धारित करते हैं—'जहां तक मेरे मन का प्रश्न है, मैं समझता हूं कि सबसे महत्व की चीज वस्तु और देखने वाली दृष्टि है। इसके बाद ही शिल्प का स्थान आता है।'[2]

वस्तुतः वस्तु और शिल्प, दोनों में से कोई किसी से कम महत्वपूर्ण नहीं। विषय कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो, शिल्प के बिना उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। यदि वस्तु को अस्तित्व में आना है, तो उसे शिल्प का सहारा लेना ही पड़ेगा। शिल्प के द्वारा ही वस्तु सुसंगठित रूप में प्रस्तुत की जाती है, अतः शिल्प-प्रयोग में सावधानता और सुनियोजन उपन्यास के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। वस्तु की महत्ता भी कम महत्व-पूर्ण नहीं। यदि वस्तु ही न हो, तो उपन्यासकार शिल्पित करेगा किसे। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है, दोनों परस्परावलम्बित हैं। वस्तु और शिल्प के ही नहीं, रचना-विधान के सभी अंग--कथावस्तु, रूप, भाषा, शिल्प आदि अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उपन्यास में इन सभी की उपस्थिति अपरिहार्य है। कोई भी अंग उपन्यास के रचना-विधान की दृष्टि से हेय नहीं समझा जा सकता। गुलाबराय जी भी इससे सहमति व्यक्त करते हैं—'वास्तव में ये तत्व एक-दूसरे से मिले रहते हैं और इनको एक-दूसरे से अलग करना उतना ही कठिन है, जितना कि किसी सुन्दर फल से उसका रंग।'[3]

रचना-विधान के इन अंगों को अलग-अलग विश्लेषित करने में कोई महत्व नहीं, इनकी अपनी-अपनी खूबियों को भी रचना की समग्र प्रभावान्विति के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। इनको अलगाने से तो उपन्यास ही बिखर जायेगा। इनके कलात्मक सुसंगठन, या कहें कि विविधता की एकात्मता में ही एक औपन्यासिक कलाकृति सम्भव है। रचना-विधान के सभी अंगों में सुसंगत ताल-मेल से ही उपन्यास में कलात्मकता और उद्देश्य की सम्यक् प्रस्तुति हो सकती है। इनका अलग-अलग विश्लेषण तो आलोचक अपनी सहूलियत के लिए करते हैं, जबकि उपन्यासकार इन अंगों को संश्लिस्ट अर्थात् परस्पर अंतर्ग्रथित रूप में ही चित्रित करता है। इनके अंतर्गुंफन में ही उपन्यास का रचना-विधान संतुलित हो सकता है।

डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के शब्दों में—'कथा-वस्तु, देशकाल, चरित्र-चित्रण और भाषा-शैली का दृष्टिकोण सुविधापरक दृष्टिकोण है, क्योंकि उपन्यास की संरचना में

---

1. जैनेन्द्रकुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० 352
2. उपेन्द्रनाथ अश्क : 'लहर', 1961
3. गुलाबराय : 'काव्य के रूप', पृ०, 156

इनको एक-दूसरे से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। संरचनात्मक परिकल्पना में ये सारे तत्व, एक-दूसरे की पिघलन का कारण और कार्य बन करके, संरचना को मुख्य अनुभव यथार्थ की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्तर सिद्ध कर देते हैं।'[1]

यह निर्विवाद है कि उपन्यास के रचना-विधान में रूप, वस्तु, भाषा और शिल्प का कोई स्वच्छन्द अस्तित्व नहीं होता। किसी भी एक अंग में परिवर्तन करने का अर्थ है—सम्पूर्ण रचना-विधान में ही परिवर्तन, क्योंकि अन्य सभी अंगों पर उसका प्रभाव पड़ता है। रचना-विधान के सभी अंगों में सुसम्बद्धता और अनुरूपता आवश्यक है, अन्यथा रचना का संतुलन बिगड़ सकता है और रचना के विश्रृंखलित व प्रभावहीन हो जाने का खतरा रहता है।

रचना-विधान के आधारभूत सारततत्वों के संदर्भ में प्रख्यात रूसी आलोचक फेदिन कहते हैं—

'लय, प्रवाह, सुर, शब्दावली और रचना-विन्यास, ये अपना-अपना स्वतंत्र जीवन नहीं बिताते। ये शतरंज के मोहरों की भांति आपस में सम्बद्ध होते हैं। जिस तरह बिसात पर बाकी मोहरों की अवस्था बदले बिना एक भी मोहरे को हटाना असम्भव है, ठीक इसी तरह किसी साहित्यिक कृति में केवल लय या प्रवाह या केवल शब्दावली को शैली के अन्य उपांगों को प्रभावित किये बिना 'सुधारना' असम्भव है। जब मैं एक शब्द काटता हूं, तो मैं वाक्य का ढांचा, उसकी लय, प्रवाह, उसके आस-पास के वाक्यों से उसका सम्बन्ध बदल देता हूं।'[2]

उपरोक्त उद्धरण में कोन्स्तान्तिन फेदिन रचना-विधान की तुलना बिसात पर बिछे हुए शतरंज के मोहरों से करते हैं। उनके अनुसार एक मोहरे को आगे या पीछे हटाने के लिए अन्य सभी मोहरों की स्थिति उसके अनुकूल बनानी पड़ेगी। अन्यथा किसी-न-किसी मोहरे के पिटने की नौबत आ सकती है या मात भी हो सकती है। ठीक यही स्थिति उपन्यास के रचना-विधान में प्रयुक्त अंगों की भी होती है। उपन्यासकार के उद्देश्य के अनुरूप वस्तु, रूप, भाषा, शिल्प सभी में अनुकूलता रहती है। अर्थात् रचना-विधान के ये अंग अलग-अलग नहीं, वरन् समानुपातिक सहयोग से ही उपन्यास निर्माण में अपना योगदान दे सकते हैं। विषय और उद्देश्य के अनुरूप एक निश्चित समानुपातिक ढग से ही इन अंगों का प्रयोग होना चाहिए। खण्डित करके देखने में इनकी कोई सार्थकता नहीं, इनका कलात्मक सौन्दर्य इनके सुनियोजित अंतर्गुम्फन में ही सुरक्षित है।

रचना-विधान के संदर्भ में सांगोपांगता का क्या और कितना महत्व हो सकता है, इस संदर्भ में हेनरी जेम्स कहते हैं—'ए नॉवेल इज ए लिविंग थिंग, ऑल वन एंड इन प्रपोर्शन एज इट लिव्स, इट विल बी फाउण्ड, आई थिंक, देट इन ईच ऑफ द पार्ट्स देयर इज समथिंग ऑफ द अदर पार्ट्स।'[3]

---

1. डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र : 'यह पथबन्धु था एक अध्ययन', पृ० 33
2. फेदिन : 'लेखन कला और रचना-कौशल', पृ० 320
3. हेनरी जेम्स : 'द आर्ट आफ फिक्शन', पृ० 66

अतः उपन्यास के रचना-विधान के प्रसंग में यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वस्तु, भाषा, शैली, शिल्प विन्यास और संवेदना व दृष्टि—ये सभी उपन्यास के अविच्छिन्न और महत्वपूर्ण अंग हैं। ये सभी मिलकर उपन्यासकार के अनुभव, कल्पना, प्रतिभा तथा विचार को मूर्त रूप देते हैं। हां, यह जरूर हो सकता है कि किसी उपन्यास के रचना-विधान में भाषिक रचाव को प्रमुखता दी जाये, या किसी में शिल्प-कौशल को, अथवा किसी में वस्तु पक्ष पर अधिक बल दिया जाये।

यथार्थ, जो कि उपन्यास के लिए एक अपरिहार्य प्रवृत्ति है, उसके सभी पहलुओं को वर्णित कर, या यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में कह पाना असम्भव है। उसके लिए कल्पना तथा अनुभव का सहारा चाहिए, ताकि यथार्थ की 'अधिकतम समग्र' अनुभूति हो सके। इस कार्य की सिद्धि सम्प्रेषणीयता की गहरी पकड़ के द्वारा ही हो सकती है और सम्प्रेषण के लिए भाषा में रचनात्मक घुलनशीलता का गुण होना आवश्यक है। भाषा की यह घुलनशीलता ही विषय-वस्तु को एक ऐसी लय और पारदर्शिता देती है, जिससे कृति संवेद्य हो सके। कोरे विस्तार के लिए वर्णन की भाषा में कथा के विकास तथा सर्जनात्मकता की गुंजाइश कम है। सर्जनात्मकता और अनुभव-सम्प्रेषणीयता के लिए भाषा-निर्माण वृतांतमूलक वर्णन की तुलना में अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इसीलिए कठिनाई से बचने के लिए सर्जनात्मकता की बुनियादी शर्तों के प्रति लापरवाह उपन्यासकार अधिकांशतः वर्णन की भाषा अपनाता है, परन्तु इससे कृति की क्षति होती है। डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार—

'उपन्यास मात्र वर्णन और प्रस्तुतीकरण होता, या मात्र विवरणात्मक के द्वारा ही सम्भव होता, तो शायद उपन्यास एक रचनात्मक कृति के रूप में जीवन की समग्र दृष्टि को अथवा अनुभव की समग्रता को उसके संदर्भ सहित अभिव्यंजित नहीं कर पाता; क्योंकि तब मात्र प्रस्तुतीकरण और वर्णन ही होता।'[1]

चूंकि उपन्यास में सिर्फ कथा कहने और वर्णन करने से बात नहीं बनती, बल्कि रचनाकार के निजी अनुभवों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अनुभव के रचनात्मक प्रतिफलन की क्षमता भी अपेक्षित होती। काव्य की भाषा में जिस प्रकार एक रचनात्मक अन्विति होती है। कल्पना और अनुभूति की व्यंजना को गहरी सघनता में काव्यात्मक भाषा द्वारा ही ध्वनित किया जा सकता है। इसीलिए उपन्यासकार को वर्णन की भाषा और अनुभव को सर्जनात्मक स्तर पर कहने की भाषा में समुचित तालमेल बिठाने की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-विधा में जैनेन्द्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, रेणु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, गोविन्द मिश्र और गिरिराज किशोर के द्वारा सर्जनात्मक और अनुभव सम्प्रेषणीयता की दिशा में किये गये प्रयोग सार्थक कहे जा सकते हैं।

पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए भी केवल वर्णन या कथन पर आश्रित रहना नाकाफी है। कथन या वर्णन अगर पात्र की चाल-ढाल, वेशभूषा, आकार-प्रकार तथा

---

1. डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र : 'यह पथबन्धु था : एक अध्ययन', पृ० 157

बाह्य क्रियाकलाप तक ही सीमित हों, अन्तर्मन के ऊहापोहों तथा यथार्थ से व्यक्ति के अंतस्सम्बन्धों का चित्रण अनुपस्थित हो, तो कथन और वर्णन संवेदना, विचार या अनुभव के स्तर पर कोई प्रभाव निर्मित कर नहीं पायेंगे। अनुभव को उसकी संवेद्यता और संश्लिष्टता में गहराई और सूक्ष्मता से गद्य के सांचे में ढली काव्यात्मक भाषा-द्वारा ही पकड़ा जा सकता है।

रेणु तथा प्रेमचन्द और इनके अनेक समकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में कथात्मकता तथा वर्णनात्मकता को प्रधानता दी है। दोनों में अन्तर यह है कि प्रेमचन्द चरित्र-चित्रण तथा कथा के विकास के लिए कथोपकथनों का सहारा लेते हैं। कथोपकथन भी ऐसे, जिनसे कथा भी विकसित हो तथा चरित्र-चित्रण भी स्वत: ही होता चले। यही कारण है कि वर्णन तथा कथन का प्राधान्य होते हुए भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की कथा में गतिशीलता और रोचकता तथा बड़े चरित्रों की सृष्टि हो पाई है। रेणु के कथोपकथनों में यह बात नहीं है, इसीलिए उनके उपन्यासों के कथा-प्रवाह में वर्णनाधिक्य अवरोध भी उत्पन्न करते हैं और उपन्यास में ऐसे बड़े चरित्रों की रचना भी नहीं हुई है, जिन्हें तॉलस्तॉय के 'विराट यथार्थवाद' के प्रतिनिधियों के रूप में देखा जा सके। हां, 'परती-परिकथा' में, जो कि प्रायः कथन और वर्णन की अतिशयता की प्रतीति कराता है, उसका अंचल जरूर एक बड़े नायक की भांति उभरता अनुभव होता है।

अतः प्रश्न यह है कि उपन्यास में कथन या वर्णन का प्रयोग किस सीमा तक किया जाए। वर्णन की प्रधानता कथा के विकास तथा औपन्यासिक संरचना को बाधित करती है। अनावश्यक वर्णन और कथन कथा-प्रवाह में नीरसता एवं गतिहीनता का कारण बनता है। आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में रेणु के उपन्यास इसके उदाहरण हैं। इसलिए उपन्यासकार की कसौटी यही है कि वह सीमित और सटीक ढंग से कथा कहे और वर्णित करे, जो उपन्यास की उद्देश्यपूर्ति और कथा-प्रवाह में गतिमयता बनाये रखने के लिए जरूरी हो।

डॉ० नगीना जैन का कहना है—'वर्णनाधिक्य के कारण कथा के प्रवाह में एकतारता का अभाव रहता है। एक रुक-रुककर चलती है। इस प्रकार वस्तुसंगठन में दरारें रहने का भय भी रहता है और उपन्यास की सफलता-विफलता में इसकी दरारों की संख्या का कम-आधिक्य बहुत महत्व रखता है।'[1]

इसके विपरीत अलेक्सेई तॉलस्तॉय यथार्थभाव के नाम पर रचना में अनावश्यक और उबाऊ वर्णनों को भी स्थान देने की बाकायदे पेशकश करते हैं—'हमें बोझिल वर्णन से या प्रसारित लेखन से या विस्तृत और थका देने वाले ब्यौरों से नहीं डरना चाहिए—यह विराट यथार्थवाद है।'[2]

विस्तार की स्फीति से बचने पर जोर देने वाले तॉलस्तॉय को ही 'विराट् यथार्थ-

---

1. डॉ० नगीना जैन : 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास' : पृ० 37
2. अलेक्सेई तॉलस्तॉय : 'साहित्य के कार्यभार', 'लेखन कला और रचना-कौशल', पृ० 206

वाद' के तर्क पर ध्यान देना जरूरी होगा, क्योंकि सतही तौर पर इसे अंतर्विरोध भी कहा जा सकता है, लेकिन 'युद्ध और शांति' उपन्यास की वृहद्ता की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में इस 'विराट यथार्थवाद' के तर्क की संगति से असहमति कठिन ही होगी।

वास्तव में उपन्यास में वर्णन को संजीव और सटीक तथा कृति से गुम्फित होना चाहिए। उन प्रसंगों को, जो रोचक तो हों, परन्तु कथा-प्रवाह में बाधा पहुंचाते हों, निस्संकोच हटा देना चाहिए। अन्यथा इसका दुष्प्रभाव औपन्यासिक संरचना पर पड़ सकता है। दृश्यपरकता, चित्रात्मकता या नाटकीयता आदि तत्वों के संयोग से वर्णन एक काल्पनिक विश्वसनीयता पैदा करता है, जो उपन्यास को नयापन प्रदान करता है।

(ग) वस्तु

'वस्तु' से अभिप्राय 'कथावस्तु' होता है।

उपन्यास कथात्मक गद्य-विधा है, इसलिए उपन्यास के उदय से ही कथा के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध बना हुआ है। चाहे कथानक सुसंगठित हो या विश्रृंखलित, पाठकों ने सदैव कथात्मकताप्रधान उपन्यास को ही अधिक सराहा है। ई० एम० फोर्स्टर के शब्दों में—'वी शैल ऑल एग्री दैट द फण्डामेण्टल एस्पैक्ट ऑफ द नॉवेल इज इट्स स्टोरी-टेलिंग एस्पेक्ट।'[1]

जिस प्रकार कोई रचना या निर्माणकार्य सामग्री के अभाव में हो ही नहीं सकता, ठीक इसी प्रकार, वस्तु के बिना भी उपन्यास-रचना असम्भव है। कथा वस्तु उपन्यास के रचना-विधान का एक महत्वपूर्ण अंग है। आलोचकों ने कथावस्तु को 'ढांचा', 'मेरुदण्ड' या 'मूलाधार' तक कहा है, जिससे कथावस्तु की महत्ता सिद्ध होती है।

उपन्यास में कथा (वस्तु) ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा उपन्यास का स्वरूप बनता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि उपन्यास के अन्तर्गत जो कुछ सामग्री या वस्तु मिलती है, वह सब उपन्यास की कथावस्तु कहलाती है। 'हिन्दी-साहित्य कोश' में कथा-वस्तु की सुविस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—'काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि केउस भाग को कथावस्तु कहते हैं, जिसमें मूल कथाभाग या इतिवृत्त के साथ सम्बद्ध वे समस्त घटनायें भी आ जाती हैं, जिनसे मिलकर कथात्मकता साहित्य-विशेष की वस्तु बनती है। अनेक नाटकों या उपन्यासों में एक से अधिक कथाधारायें होती हैं और उनके अलग-अलग नायक होते हैं। कभी-कभी उनकी फलप्राप्ति भिन्न-भिन्न होती है और कभी-कभी वे सब कथाधारायें अन्त में एक ही फलागम को प्राप्त होती हैं। कथाओं की ये समस्त धारायें और उनकी शृंखलायें, घटनाओं को पुष्ट करने वाले प्रमाण-पत्र, समाधार, दस्तावेज आदि मिलकर कथावस्तु कहलाते हैं।'[2]

---

1. ई० एम० फोर्स्टर : एस्पेक्ट्स आफ द नावेल, पृ० 27
2. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, (पारिभाषिक शब्दावली) सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश (संयोजक), पृ० 205

'वृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार 'कथा का मूलरूप'[1] कथावस्तु कहलाता है। बाबू गुलाबराय भी कथावस्तु को ही उपन्यास का मूलाधार मानते हैं—'यह ही उपन्यास की भित्ति है, जिस पर मनचाहे रंगों में चित्र अंकित किये जा सकते हैं। चित्रों की सुन्दरता में भित्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है।"[2]

कथावस्तु की उपन्यास के रचना-विधान में एक ऐसी भूमिका होती है, जो रूप ही नहीं, बल्कि ढांचे को भी प्रभावित करती है। उपन्यास का सारा वितान कथावस्तु की प्रकृति और परिमाण से जुड़ा होता है, क्योंकि कथावस्तु उपन्यासकार की दृष्टि, संवेदना और अनुभव की प्रकृति का भी प्रतिनिधित्व करती है।

उपन्यास-रचना में लेखक का एक उद्देश्य या दृष्टिकोण होता है, जिसके सम्पादन के लिए वह अनुकूल विषयवस्तु चुनता है। वस्तु के बहाने ही उपन्यासकार के मंतव्य या अभीष्ट की सिद्धि होती है। अर्थात् कथावस्तु उपन्यासकार के उद्देश्य को रोचक ढंग से सम्प्रेषित करने का एक महत्वपूर्ण एवं सफल माध्यम है। उपन्यास का सारा दारोमदार उसी पर निर्भर है, क्योंकि इसे ही रूपायित, भाषित और शिल्पित किया जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कथावस्तु के सहारे ही कोई उपन्यासकार अपनी वांछा को आकार देता है। अनुभव, दृष्टि और संवेदना भी अंततः वस्तु के सहारे या वस्तु में ही प्रतिच्छायित होते हैं।

कथानक केवल घटना-विधान नहीं, बल्कि कहने की शैली भी है। उपन्यास का कथानक घटना और घटनाहीनता दोनों हो सकता है और कहने की शैली की दृष्टि से पूरा उपन्यास भी हो सकता है। डॉ० नगीना जैन भी कथावस्तु के महत्व को स्वीकार करती हैं—'कथानक या कथावस्तु उपन्यास का मुख्य तत्व है। इसे प्रायः सभी आलोचकों ने प्रमुखता प्रदान की है और किसी-न-किसी रूप में इसकी अनिवार्यता को स्वीकार किया है।'[3]

कथावस्तु का शिल्प से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कथावस्तु को शिल्पित करके कथानक का रूप दिया जाता है। परन्तु कभी-कभी शिल्प पर अधिक बल दिये जाने के कारण वस्तु की उपेक्षा भी होती रही है और विद्वानों ने कथावस्तु के महत्व को कभी कम, तो कभी अधिक आंका है। वास्तव में वस्तु को प्रस्तुत करने के उद्देश्य के अनुरूप ही शिल्प-प्रयोग किया जाता है। यही मोहन राकेश भी कहते हैं—'कहानी या उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर इतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आंतरिक अपेक्षा पर।'[4]

उपन्यास चूंकि सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है, इसके पाठकों की संख्या भी अधिक

---

1. 'वृहत् हिन्दी कोश', सम्पा०—कालिका प्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृ० 242
2. गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० 156
3. डॉ० नगीना जैन : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 34
4. नई कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, पृ० 97

है। इसीलिए, उपन्यास के माध्यम से, लेखक को अपना उद्देश्य प्रस्तुत करने के साथ-साथ मनोरंजन के लिए कथावस्तु को रोचक ढंग से प्रस्तुत करना पड़ता है। कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण का ढंग ही लेखक की प्रतिभा की कसौटी होता है। कथावस्तु के रोचक न होने से पाठक वर्ग पर उसका असर पड़ेगा ही। बाबू गुलाबराय रोचकता के लिए नवीनता और कौतूहल को आवश्यक मानते हैं—'यदि उसकी अरोचकता की कुख्याति फैल जाए, तो उसकी बिक्री बन्द हो सकती है। रोचकता के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है।'[1]

ऊपर जिस नवीनता की चर्चा गुलाबराय जी ने की है, वह कथावस्तु का एक प्रधान गुण 'मौलिकता' ही है। कथावस्तु को मौलिक होना ही चाहिए, क्योंकि मौलिकता का प्रभाव रोचकता पर भी पड़ता है। लेकिन कभी-कभी कथावस्तु मौलिक होने पर भी रोचक और सुसम्बद्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ अनेक आंचलिक उपन्यासों की कथावस्तु में मौलिकता तो होती है, परन्तु रोचकता और सुसम्बद्धता नहीं मिलती।

उपन्यास की कथावस्तु में यथार्थता का होना भी आवश्यक है। यथार्थता के समावेश से कथावस्तु में स्वाभाविकता बनी रहती है। उपन्यासकार को कल्पना को भी इस ढंग से समायोजित करना होता है कि वह अयथार्थ न लगे। उपन्यास की कथावस्तु में लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह अनुभव के उन्हीं हिस्सों को ले, जो उद्देश्य की दृष्टि से उपयोगी हों। अनुपयोगी अंशों के समावेश से कथावस्तु में सुसंगठितता नहीं बनी रह सकती। संगठन से गुलाबराय का आशय है—'संगठन से अभिप्राय यह है कि न तो कोई आवश्यक बात छूटे और न कोई अनावश्यक बात आए। इसके साथ यह भी वांछनीय है कि घटनायें कार्य-कारण श्रृंखला में बंधकर क्रमागत रूप में दिखाई दें। कार्य-कारण श्रृंखला में बंधना ही घटना-चक्र को कथावस्तु का रूप देता है।'[2]

कथावस्तु में एकसूत्रता होनी चाहिए। सब घटनायें तथा प्रासंगिक कथायें परस्पर सुसम्बद्ध हों तथा प्रमुख कथा के साथ भी उसकी संगति बैठती हो। अनेक उपन्यासों में कथावस्तु बिखरी होती है। घटनायें तथा कथायें विश्रृंखल होती हैं, लेकिन वे अलग-अलग रहकर भी उपन्यासकार के उद्देश्य की पूर्ति करती है। जैसे आंचलिक उपन्यास में कथात्मक एकसूत्रता बहुत कम मिलती है, लेकिन सारी विषयवस्तु मिलकर लेखक के उद्देश्य आंचलिकता को प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होती है।

कथावस्तु मनुष्य या मानवनिर्मित समाज से ही ग्रहण की जाती है। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यास में मानव को अधिक पूर्णता, स्वाभाविकता, विविधता, यथार्थता, और सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया जाता है। इसके लिए कथावस्तु का सघन और विस्तृत होना आवश्यक है, क्योंकि तभी मानवजीवन की समस्याओं और जटिलताओं की विस्तृत व्याख्या की मांग की पूर्ति के हेतु उपन्यास की कथावस्तु ही

---

1. गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ० 161
2. काव्य के रूप : पृ० 160

उपयुक्त होती है।

उपन्यास के लिए वस्तु का संयोजन ही उपन्यासकार का पहला कदम हुआ करता है, क्योंकि उसके बिना अनुभव और दृष्टि का तारतम्य सम्भव नहीं। संचित से आवश्यक का चयन विषयवस्तु की अपरिहार्य शर्त है, क्योंकि प्रत्येक अनुभव या अनुभव का प्रत्येक प्रकार कथावस्तु का अंग नहीं हो सकता। अस्तु उद्देश्य, अनुभव, दृष्टि तथा संवेदना के अनुरूप कथावस्तु का चयन अथवा संगठन उपन्यास की आधारभूत शर्त बन जाता है।

रूप

वस्तु को प्रकाश में आने के लिए 'रूप' या 'आकार' ग्रहण करना पड़ता है। रूप के बिना वस्तु और वस्तु के बिना रूप का अस्तित्व नहीं। साहित्य में भी रूप-ग्रहण आवश्यक है। विस्तृत, यथार्थ-परक, रोचक, उद्देश्यपूर्ण तथा सशक्त कथात्मक एक कलात्मक गद्य-रचना उपन्यास का रूप धारण करती है। विन्यास में रूप और वस्तु की इस विवशता के कारण ही कुछ विद्वान् उपन्यासों को महाकाव्य का परिवर्तित तथा आधुनिक रूप मानते हैं। कुछ भी हो, भारत में उपन्यास का प्रादुर्भाव अंग्रेजी उपन्यासों के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही हुआ, इसलिए रूप में काफी हद तक वही बनावट या बुनावट देखी जा सकती है। आंचलिक उपन्यास भी इसके अपवाद नहीं।

उपन्यास मानव-जीवन से ही अपनी सामग्री ग्रहण करता है। समानुक्रम में मनुष्य की जीवन-शैली, आस्थायें, मूल्य, सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक परिस्थितियां बदलती रहती हैं। इसका असर उपन्यास के स्वरूप पर भी पड़ता है। उपन्यास का बहुआयामी, परिवर्तनशील, लचीला, वैविध्यपूर्ण तथा मौलिक स्वभाव उसे रूप के किसी एक प्रकार में बंधने नहीं देता। कई विद्वान् इसके रूप को परिभाषित करने में असमर्थता व्यक्त करते हैं। डॉ० जवाहर सिंह के शब्दों में—'बिहारीलाल की नायिका के सौन्दर्य की तरह इसका क्षण-क्षण परिवर्तित रूप भी कुछ ऐसा है कि इसकी परिभाषा की सीमा-रेखा में बांधने वाले कितने ही 'चतुर चितेरे क्रूर' बन गये।'[1]

इस 'स्वभाव' को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह स्वभाव के अनुसार रूप में सतत परिवर्तनशीलता उपन्यास का बहुत बड़ा गुण है और यही उपन्यास के आज तक मजबूती से टिकें रहने का जबर्दस्त कारण भी है, क्योंकि यदि उपन्यास के स्वभाव में परिवर्तनशीलता और लचीलापन न होता, तो इसका अन्त कभी का हो गया होता। विश्वविख्यात रूसी आलोचक फेदिन ने इसी आधार पर उपन्यास को असीमित संभावनाओं वाली विधा के रूप में देखा है।

सभी विधाओं की तरह उपन्यास का विषय भी मनुष्य ही है। रचनाकार स्थापित सम्बन्धों से भिन्न सम्बन्धों को दिखाने के लिए ही उपन्यास की समानान्तर दुनिया रचता है। इसलिए उपन्यास एक प्रकार का 'समानान्तर विश्व' है और जैसे विश्व का सृजन निरुद्देश्य नहीं, वैसे ही औपन्यासिक विश्व भी निरुद्देश्य नहीं हो सकता।

---

1. डॉ० जवाहर सिंह—हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 46

समस्त साहित्यिक विधाओं में सर्वाधिक लचीला स्वरूप उपन्यास का ही है, जिसके कारण अनेक प्रकार के रूप-धारण की क्षमता उपन्यास में मिलती है। उपन्यास के स्वरूप में सदा परिवर्तन होता रहा है। सामाजिक परिवर्तन, शिल्प-परिवर्तन, उद्देश्य-परिवर्तन, वस्तु-परिवर्तन के साथ-साथ रूप में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जो कि उपन्यास के विकास का परिचायक है। परिवर्तनशील, विकासशील और गतिशील होने के कारण उपन्यास का कोई एक रूप सुनिश्चित नहीं है। सभी प्रकार के उपन्यास इस बात के साक्षी हैं। कभी घटना-प्रधान उपन्यास लिखे गए, तो कभी सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक या यथार्थवादी रूप दिखलाई पड़ता है। उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण के विषय में डॉ० राम अवध द्विवेदी का कहना है—'उपन्यास का स्वरूप किस प्रकार निर्धारित होता है, इसके सम्बन्ध में नवीन युग के विचारकों ने कई प्रकार के मत प्रकट किए हैं। कतिपय साहित्यमर्मज्ञों का विचार है कि किसी उपन्यास का स्वरूप उसकी आंतरिक प्रक्रिया अर्थात् परिस्थिति, घटना, चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध तथा इस सम्बन्ध के विकास के आधार पर बनता है। कुछ अन्य विचारक इससे भिन्न मत रखते हैं। उनकी धारणा है कि किसी उपन्यास का आकार अथवा पैटर्न बाह्य प्रभावों के आघात-प्रत्याघात से निरूपित होता है।'[1]

उपन्यास में बाह्य और आंतरिक प्रक्रिया दोनों का ही असर उसके रूप पर पड़ता है। 'बाह्य प्रभावों के आघात-प्रत्याघात' से द्विवेदी जी का तात्पर्य राजनैतिक और सामाजिक प्रभाव से है। सामाजिक परिवर्तन, मूल्यों, विश्वासों, परिस्थितियों तथा राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव अवश्य ही उपन्यास के रूप पर पड़ता है। लेकिन उपन्यासकार के एक निश्चित उद्देश्य या दृष्टिकोण के अनुरूप तत्व-निरूपण के फलस्वरूप भी उपन्यास का रूपाकार प्रभावित होता है। हर कलाकार, उद्देश्य के अनुसार रचना को आकर्षक और प्रभावशाली बनाने की चेष्टा में, रूप में अनेक प्रकार के परिवर्तन करता है। उपन्यास-रचना का भी एक उद्देश्य होता है। उपन्यास का रूप विश्रृंखलित भी हो सकता है। एक श्रेष्ठ उपन्यास में विश्रृंखलन भी अकारण या निरुद्देश्य नहीं होता। उस विश्रृंखलन में भी कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य निहित रहता है, जो औपन्यासिक कलात्मकता को खण्डित होने से बचाता है। उपन्यास में उद्देश्य के अनुसार जिस तत्व को अधिक महत्व दिया जाता है, उसी के अनुरूप उपन्यास का स्वरूप भी निर्मित होता है। यदि उपन्यास मनोरंजकता को उपन्यास का उद्देश्य मानता है, तो मनोरंजक उपन्यास; सामाजिकता को महत्व देने पर सामाजिक उपन्यास और यदि यथार्थता पर बल देता है, तो उपन्यास यथार्थवादी हो जाता है। कह सकते हैं कि उपन्यासकार के उद्देश्य का उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण में बड़ा हाथ होता है। पर्सी लब्बक का भी यही विचार है कि रूपाकार उद्देश्य पर आधारित होता है। 'द फॉर्म ऑफ द बुक डिपेन्ड्स ऑन इट (द इटेन्शन ऑफ द नावलिस्ट) एण्ड अनटिल इट इज नोन, देयर इज नथिंग

---

1. डॉ० राम अवध द्विवेदी : आलोचना, अक्टूबर 1954, उपन्यास के उपकरण—पृ० 32

टु बी सेड ऑफ़ फॉर्म।'[1]

रूप का वस्तु, भाषा, शिल्प सभी से सम्बन्ध होता है। कथावस्तु को ही गढ़कर उपन्यास का रूप दिया जाता है। उपन्यास के रूप में अब तक चाहे जैसा भी अन्तर आया हो, लेकिन उसका कलेवर प्रायः सुविस्तृत ही रहा है। उपन्यास के विस्तार की कोई सीमा नहीं। अर्थात् सीमा उपन्यासकार की अपनी आवश्यकता है, जो लघु से विराट् यथार्थवाद की सरणियों तक, कहीं भी जा सकती है। उसकी स्वरूपात्मक सशक्तता का प्रभाव भी व्यापक जन-समाज पर पड़ता है।

उपन्यास के व्यापक और विस्तृत स्वरूप के बारे में डॉ० रामदरश मिश्र कहते हैं—'नाटक, काव्य, कहानी और निबन्ध की तरह उपन्यास के विस्तार की कोई सीमा नहीं बांधी गई है। वह जितना चाहे फैल सकता है और संगठित रूप से जीवन की जितनी भी व्यापकता चाहे समेट सकता है। अतः उपन्यास निश्चय ही आधुनिक काल की एक बहुत ही शक्तिशाली और जनप्रिय विधा है।'[2]

स्वयं हिन्दी के उपन्यासकारों का उपन्यास के स्वरूप के बारे में क्या कहना है, इस सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में धीरे-धीरे एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार के रूप में उभरे और स्थापित हुए गोविन्द मिश्र का यह कथन उद्धृत करना उपयोगी ही होगा कि —'उपन्यास कमोवेश दूसरी विधाओं के तत्वों का घालमेल ही है।'[3]

प्रथमदृष्टया कुछ ऊट-पटांग दिखते भी, गोविन्द मिश्र का कथन काफी हद तक ठीक ही है, क्योंकि उपन्यास की यथार्थता, रोचकता, कथात्मकता कहानी में भी मिल सकती है। जीवन के जितना निकट उपन्यास, उतना ही निकट कहानी भी होती है। विचारात्मकता निबन्धों या लेखों में भी दृष्टिगोचर हो सकती है। संवादात्मकता और चरित्र-चित्रण कहानी तथा नाटकों दोनों में प्राप्त हो जाता है। लेकिन आगे वह कहते हैं—'इसका अपना क्या है ?···शायद विस्तार और जटिलता है।'[4]

किन्तु गहराई से देखा जाए, तो वास्तव में विस्तार और जटिलता भी उपन्यास की अपनी नहीं है। यह तो महाकाव्य से उसे विरासत में मिली है। महाकाव्य में विस्तार और जटिलता तो है, परन्तु जीवन के सामान्य-से-सामान्य, सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटनाओं या परिस्थितियों का जिस कुशलता, यथार्थता और बारीकी से वर्णन करने की सहूलियत गद्य में रहती है, उतनी पद्य में सम्भव नहीं। इस दृष्टि से उपन्यास महाकाव्य से अधिक समर्थ और सशक्त विधा है। उपन्यास के स्वरूप में अन्य विधाओं के तत्वों का घालमेल होने के बावजूद उसका एक गुणात्मक पक्ष यह है कि इसमें उपरोक्त सभी विधाओं की विशेषतायें एक साथ देखने को मिलती हैं। इसी कारण उपन्यास का एक

---

1. पर्सी लब्बक : द क्राफ्ट ऑफ द फिक्शन, पृ० 12
2. डॉ० रामदरश मिश्र : 'हिन्दी उपन्यास—एक अंतर्यात्रा', पृ० 14
3. गोविन्द मिश्र : हिन्दी उपन्यास—जातीय सम्भावनायें : 'पूर्वग्रह' सम्पा०—अशोक वाजपेयी, अंक 46-47
4. वही,

अलग निजी स्वरूपगत वैशिष्ट्य दिखाई पड़ता है। यह स्वरूपगत वैशिष्ट्य भी उपन्यास की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है।

भाषा

समस्त प्राणियों में मनुष्य का सर्वाधिक समर्थता, श्रेष्ठता और विकासशीलता का कारण भाषा ही है। हमारा सोच-विचार, तर्क, कल्पना, विकास, सभी कुछ भाषा द्वारा ही सम्भव है। भाषा सिर्फ बोलने तक ही सीमित नहीं। संकेतात्मकता, यहां तक कि मौन को भी भाषा की संज्ञा दी गई है। कह सकते हैं कि भाषा का प्रवाह मौन से मुखर तक जाता है।

लेखक भाषा के माध्यम से ही अपने अनुभवों को प्रतिभा और कल्पना-द्वारा कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। भाषा से वंचित होने पर वह अभिव्यक्ति के लिए बेचैन हो जाएगा। भूखे के लिए यदि भोजन आवश्यक है, तो भाषा का लेखक के लिए उससे कम महत्व नहीं। भाषाविहीन लेखक की कल्पना भी नहीं हो सकती। भाषा को लेखक से अलग करना प्राण को शरीर से अलग करना है। भाषा ही लेखक का प्राण है। तभी तो फेदिन ने कहा है—'भाषा ही लेखक का जीवन-सागर है। अगर उसे इस जीवन-सागर से अलग फेंक दिया जाए और वह पानी के बाहर मछली की तरह तड़पने न लगे, तो वह लेखक नहीं है।'[1]

यों तो मनुष्य-मात्र का भाषा से अटूट सम्बन्ध है, परन्तु लेखक, जिसका काम ही लिखना है, भाषा से कहीं अधिक गहरे रूप में जुड़ा होता है। भाषा ही लेखक का सर्वस्व है। भाषा नहीं, तो लेखक नहीं। लेखक के द्वारा प्रयुक्त भाषा स्वत: ही कलात्मक उत्तमता की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होती। भाषा परिवेक्षणीय होती है। उच्च स्तर की भाषा कलात्मक और साहित्यिक दृष्टि से अधिक मान्य होती है। एक ही विषय पर लिखी दो कृतियों के लेखकों की श्रेष्ठता की पहचान भाषा के स्तर द्वारा ही होती है। भाषा, लेखक के लिए, सिर्फ लिखने ही नहीं, बल्कि अनुभव के सघनीकरण और विस्तार का माध्यम भी होती है। लिखने से पहले लेखक अनुभव को भाषा में तराशता है। उसे रचना के अनुरूप बनता है।

विख्यात रूसी आलोचक फेदिन के शब्दों में—'और लेखक को ध्यान रखना चाहिए कि अगर दो कृतियां समान विचारधारात्मक स्तर पर हों, तो जिसमें भाषा सबसे बढ़िया होगी, वही कला की दृष्टि से सबसे बहुमूल्य होगी।'[2]

भाषा के अभाव में तो लेखक का अनुभव और प्रतिभा अव्यक्त ही रह जाएगी। लेखक का अस्तित्व ही भाषा के कारण है। कोन्स्तान्तिन सम्पूर्ण रचना-विधान में सर्वाधिक महत्व भाषा को ही देते हैं। किसी भी लेखक के लिए भाषा के महत्व के विषय में फ़ेदिन कहते हैं—

---

1. कोन्स्तान्तिन फेदिन : लेखन कला और रचना कौशल, नोटबुक, पृ० 322
2. फेदिन : लेखन-कला और रचना कौशल, पृ० 345

'लेखक के कौशल की बात भाषा से शुरू होनी चाहिए। किसी भी कृति की मौलिक सामग्री हमेशा भाषा ही रहेगी। ललित साहित्य शब्दों की कला है। किसी साहित्यिक कृति का रचना-विन्यास उसके कलात्मक रूप का अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व है, किन्तु लेखक की भाषा का महत्व उससे भी अधिक निर्णायक है।'[1]

भाषा को महत्व देते हुए उसके सम्बन्ध में की गई लापरवाही के प्रति क्षुब्धता प्रकट करते हुए फेदिन जोर देकर कहते हैं कि—'भाषा विचार का यन्त्र है। भाषा के साथ जैसा-तैसा व्यवहार करना विचारों को भी जैसा-तैसा बनाना है।'[2]

लेखक को भाषा की अवमानना नहीं करनी चाहिए। भाषा की अवमानना करने का अर्थ, पूरी रचना के साथ अन्याय करना है। अतः लेखक को न तो अनावश्यक प्रसंगों को तूल देना चाहिए और न ही गैरजरूरी शब्दों का इस्तेमाल करना चाहिए। उसे सिर्फ उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना चाहिए, जो विषय, पात्र तथा देशकाल की दृष्टि से सटीक तथा उपयुक्त हों। भाषा खिलवाड़ की वस्तु नहीं है। उसे गम्भीरता से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। ऊल-जलूल भाषा के प्रयोग से विचार, तर्क ही नहीं, हमारी संवेदना भी दुष्प्रभावित होती है। इसलिए भाषा-प्रयोग के मामले में लेखक को अत्यन्त सतर्कता से काम लेना चाहिए।

एक ही भाषा के होने पर भी हर लेखक में भाषा-प्रयोग की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर लेखक के अनुभव, ज्ञान, कल्पना और संवेदन-क्षमता पर भी निर्भर करता है। इससे स्पष्ट है कि हर लेखक की अपनी एक विशिष्ट भाषा है। अब वह भाषा अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी, लेकिन एक निजीपन भाषा में अवश्य ही पाया जाता है और यह आवश्यक भी है। यह निजीपन ही लेखकीय प्रतिभा की कसौटी होती है। फेदिन इस सन्दर्भ में चेखव को उद्धृत करते हैं—'यदि लेखक की कोई शैली नहीं है, तो वह कभी लेखक नहीं हो सकता। परन्तु यदि उसकी एक शैली है, अपनी एक भाषा है, तो उसके लेखक होने की आशा हो सकती है। तब उसकी कृति के दूसरे पहलुओं पर विचार किया जा सकता है।'[3]

उपन्यास में न तो विशुद्ध यथार्थ वर्णित होता है और न ही सिर्फ कल्पना का चित्रण। विशुद्ध यथार्थ या विशुद्ध कल्पना, दोनों ही कलात्मकता और रचनात्मकता के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं। उपन्यास में यथार्थ-चित्रण के साथ-साथ कल्पना को भी विश्वसनीयता प्रदान के लिए यथार्थ की कसौटी पर कसकर सम्प्रेषित किया जाता है। उपन्यासकार को कल्पना और यथार्थ का ऐसा सामन्जस्यपूर्ण चित्र उपस्थित करना होता है, जिससे औपन्यासिक कलात्मकता और रचनात्मकला को क्षति न पहुंचे। यह कार्य भी भाषा-द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसलिए हर रचना में कलात्मक सौन्दर्य के लिए भाषा को सर्जनात्मक स्तर पर रचना भी पड़ता है। रचनात्मकता भाषा का एक

---

1. फेदिन : लेखन कला और रचना कौशल, पृ० 303
2. वही, पृ० 305
3. फेदिन : लेखन कला और रचना कौशल, पृ० 320-321

महत्त्वपूर्ण गुण है। रचनात्मकता भाषा को समृद्ध करती है। रचनात्मक दृष्टि से देखें, तो पायेंगे कि आंचलिक उपन्यास में बहुत महत्त्वपूर्ण और भाषिक प्रयोग हुए हैं। उपन्यासकारों ने अंचल के अनेक शब्दों को अपनी भाषा में ढालकर उन्हें सार्वदेशिक स्तर पर सहजता तथा सुबोधता प्रदान की है। अब यह अलग बात है कि कुछ उपन्यासकारों ने आंचलिक शब्दों के अतिशय प्रयोग से अपनी औपन्यासिक कृति को इस भाषा से इतर पाठक वर्ग के लिए दुर्बोध बना दिया और कहीं-कहीं तो उपन्यासकार अपनी भाषा और अंचल की भाषा में समुचित तालमेल ही न बिठा सका। इन दोषों के होते हुए भी आंचलिक उपन्यास में रचनात्मक दृष्टि से किये गए भाषिक प्रयोगों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है।

उपन्यास की भाषा अत्यन्त लचीली और रचनात्मक गुणों से सम्पन्न होती है। होनी चाहिए। जिस भाषा में से रचनात्मकता और ग्रहणशीलता खत्म हो जाती है, उसका विकास भी अवरुद्ध हो जाता है और वह मृतप्राय हो जाती है। जैसा कि हश्र संस्कृत का हुआ। देववाणी संस्कृत के सम्पन्न होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से आज यदि उसका महत्त्व नहीं, तो केवल इसीलिए कि उसकी प्रकृति ग्रहणशीलता और परिवर्तनशीलता की नहीं है। उसमें विकास की सम्भावना नहीं दिखती। संस्कृत भाषा के व्यावहारिक न होने का एक बड़ा कारण उसके विन्यास की क्लिष्टता भी है। सामान्य जनता उसको व्यवहार में नहीं ला सकती। परिणामस्वरूप बोलचाल की दृष्टि से आज संस्कृत भाषा का व्यवहार समाप्तप्राय हो चुका है। जो भाषा जन-सामान्य से नहीं जुड़ती वह एक विशिष्ट वर्ग के दायरे में बंधकर सिमट जाती है। उसके विकास और प्रचलन की गुंजाइश भी खत्म हो जाती है। इसीलिए जनता की भाषा में ही उपन्यास रचा जाना चाहिए। प्रायः सभी लेखकों ने जनता की ही भाषा में उपन्यास रचे जाने पर जोर दिया है। लेखक को चाहिए कि वह अपनी भाषा को जन-सामान्य की भाषा के साथ पूरी तरह जीने और जनता की भाषा को रचनात्मकता प्रदान करना ही अपनी भाषा का लक्ष्य समझे। हम अपनी भाषा में ही ज्यादा सहज और स्वाभाविक ढंग से विकास कर सकते हैं, क्योंकि वह भाषा शुरू से ही हमारे संस्कार में रची-बसी होती है। वास्तव में उपन्यासकार को अपनी भाषा को, एक विशेष वर्ग के लोगों के लिए नहीं, जन-साधारण के लिए सुबोध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी में भाषिक संश्लिष्टता तथा जटिलता के लिए जाने गए डॉ० रमेशचन्द्र शाह तक कहते हैं—'पूरा समाज जिस भाषा के साथ जीता है, उसमें और उसी के साथ जीते हुए अगर हम उस जीवन सन्दर्भ को पहचानते हैं और उस भाषा में रचना करते हैं, तो हमारा समाज भी रचनाशील हो सकता है। जबकि दूसरी ओर अनुवादजीवी समाज के सामने जब कोई नयी चीज आती है, तो वह तुरन्त दूसरे का मुंह देखने लगता है, क्योंकि अपनी शक्ति को पहचानना उसने सीखा ही नहीं। भाषा हमारी शक्ति है, उसको हम पहचानें, यही रचनाशीलता का उत्स है। व्यक्ति के लिए भी और समाज

के लिए भी।'[1]

'अपनी शक्ति को पहचानना' से अभिप्राय निज भाषा के प्रयोग के महत्त्व से ही हो सकता है। निज भाषा के महत्त्व का गुणगान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी कर चुके हैं—'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।' एक जगह और भी भूमिका में अज्ञेय जी साहित्यिक भाषा को कहानी और उपन्यास के लिए अनुपयुक्त मानते हैं।

उपन्यास, साहित्य के मूर्द्धन्य विद्वानों से लेकर सामान्य जन-जीवन के बीच पढ़ी जाने वाली विधा है। जो कृति सामान्य जनता के लिए भी लिखी जानी हो, उसके लिए जनता की भाषा का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। ताकि वह भी उस रचना का आनन्द ले सके। सामान्य जनता का बौद्धिक स्तर साहित्यिक भाषा की समझ से परे होता है। इसीलिए अज्ञेय जी कहते हैं—कथा-साहित्य में 'साहित्यिक भाषा' का प्रयोग नहीं चल सकता। यह बात उपन्यास के विकास के प्रारम्भिक युग में ही स्पष्ट हो गई थी।'[2]

यह सही है कि लेखक जिस वर्णन-क्षेत्र को चुनता है, वहां की बोलचाल की भाषा की झलक उसकी भाषा में दिखाई दे। यह सर्वविदित है कि बोलियां ही विकसित होकर कालान्तर में साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण करती हैं। बोली, धीरे-धीरे, साहित्यिक भाषा की गरिमा से मण्डित होने की कोशिश में क्लिष्ट और विशिष्ट होते जाने के कारण जनता से कटती जाती है। परिणामस्वरूप बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अन्तर बढ़ता जाता है और अन्ततः दोनों पूरी तरह से अलग-अलग हो जाती हैं। अलेक्सेई तॉलस्तॉय समाज में व्याप्त साहित्यिक तथा मौखिक दो भाषाओं के प्रचलन को ही समाप्त कर देना चाहते हैं और बदले में जनगण की भाषा को ही साहित्यिक भाषा बनाने पर बल देते हैं। उसी के विकास और परिष्कार की अपेक्षा भी करते हैं। उनका कहना है—

'मेरा विश्वास है कि मौलिक साहित्यिक भाषा जनगण की भाषा है, जिस भाषा का प्रयोग लोग अपनी बोलचाल में करते हैं। साहित्यिक भाषा का विकास होना चाहिए तथा उसका और अधिक परिष्कार करना चाहिए। हमें सदा के लिए साहित्यिक तथा मौलिक, दो भाषाओं की इस परम्परा का अन्त कर देना चाहिए।'[3]

तॉलस्तॉय की बात से यह तथ्य सामने आता है कि उपन्यास की भाषा की भूमिका कितनी बड़ी है। सामान्य जनता की भाषा का वैसी ही बोधगम्यता और पार-दर्शिता के धरातल पर साहित्य की भाषा में रचाव आसान काम नहीं है। अनुभवसिद्ध और भाषा के दाक्षिण्य से अवगत लेखक ही उपन्यास में भाषा की जनोन्मुखता की परवा कर सकता है, ताकि उपन्यास की पहुंच व्यापक जन-समाज तक बन सके। इसे सामान्य जीवन की भाषा और साहित्य की भाषा के बीच का सेतुबंध भी कहा जा सकता है।

---

1. रमेशचन्द्र शाह : 'सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा की समस्याएं', पृ० 27
2. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय : सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा, पृ० 3
3. अलेक्सेई तॉलस्तॉय : लेखन कला और रचना-कौशल, पृ० 282

भाषा का ऐसा व्यापक रचाव ही उपन्यास को यथार्थ की अधिकतम प्रामाणिक, पारदर्शी तथा विस्तृत उपस्थिति में समर्थ कर सकता है।

भाषा का एक गुण संवेदनशीलता भी है। भाषा जितनी ही संवेदनशील होगी, उतनी ही प्रभावशाली है और सम्प्रेषणीय भी होगी। संवेदनशील भाषा में सामान्य भाषा की अपेक्षा सम्प्रेषणीयता भी बढ़ जाती है। संवेदनशीलता हमारी चेतना कोश कझोरती है और भाषा में जीवन्तता बनाये रखती है। जैसे मनुष्य में प्राण, वैसे ही संवेदनशीलता भी भाषा को अनुप्राणित करती है। संवेदना मनुष्य और उसकी भाषा, दोनों को ही प्रभावित करती है।

कैसी भी सुन्दर शब्दावली भाषा को प्रभावशाली नहीं बना सकती, अगर कि उसमें संवेदना की आर्द्रता या ताप के तत्व नदारद हों। उपन्यास की भाषा में संवेदना की इस भूमिका को ध्यान में रखना आवश्यक है कि संवेदना ही भाषा में पारदर्शिता और घुलनशीलता उत्पन्न करती है।

उपन्यास में भाषा संवेदना से कैसे जुड़ी होती है, इस सन्दर्भ में 'जुगलबन्दी' के रचनाकार गिरिराजकिशोर का कहना है—'संवेदना अन्तःस्रोत की वस्तु है। भाषा उसका बाह्य रूप है। इसलिए साहित्य में भाषा ही नहीं होती, वह संवेदना भी होती है। जब वह केवल भाषा होती है, तो नारे और प्रचार की हो जाती है, या सपाटबयानी। गाली भाषा प्रचार और नारों की भाषा से अधिक सम्प्रेषणशील होती है, क्योंकि उसकी भी एक भिन्न प्रकार की संवेदना है, जो सटीक है।'[1]

उपन्यास एक गद्यात्मक विधा है और इसमें यथार्थ के सूक्ष्मतम और जटिलतम पहलुओं को अभिव्यक्ति मिलती है, जो कि काव्य का अंग भी है। उपन्यास की इसी भाषिक संश्लिष्टता की ओर इंगित करते हुए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी कहते हैं—'उपन्यास के विधान में भाषा-प्रयोग की दुहरी समस्या है। एक तो गद्य की सामान्य प्रकृति के हिसाब से उसे वर्णन करना है और दूसरा, उससे अधिक मुश्किल काम है, यथार्थ के सूक्ष्म और जटिल अनुभव को सम्प्रेषित करना। भाषा के इस दुहरे धर्म को निबाहने में उपन्यासकार का मुख्य कृतिकार्य निहित है।'[2]

उपन्यास में भाषा-प्रयोग उपेक्षाकृत अन्य विधाओं के अधिक कठिन कार्य है। कारण उपन्यास विधा के भाषा-निर्वाह में गत्यात्मकता भी बनाये रखनी है और साथ ही यथार्थ के सूक्ष्म और जटिल अनुभवों को भी सम्प्रेषित करना है। इसलिए ऐसी भाषा का निर्वाह कर ले जाना सचमुच उपन्यासकार के लिए बड़े महत्त्व की बात है।

□

---

1. गिरिराज किशोर : 'समकालीन यथार्थ, संवेदना और कथा-भाषा' (सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा) सम्पा०—अज्ञेय, पृ० 55
2. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'समकालीन यथार्थ और कथा-भाषा की समस्यायें' (सामाजिक यथार्थ और कथा-भाषा : सम्पा० अज्ञेय) पृ० 37

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की परम्परा और प्रयोग

(क) रेणु-पूर्व आंचलिकता के प्रयोग

अन्य रचनात्मक साहित्यिक विधाओं की भांति उपन्यास-विधा में अनेक महत्त्व-पूर्ण प्रयोगों का परिणाम कल्पना, रोमांस एवं मनोरंजनयुक्त तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, राजनैतिक उपन्यास, चारित्रिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, वैयक्तिक उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास आते हैं। यही नहीं, उपन्यास-विधा के एक महत्त्वपूर्ण प्रकार 'आंचलिक उपन्यास' में भी, औपन्यासिक विकासशील एवं परि-वर्तनशील प्रकृति के कारण, अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं, जिससे आंचलिक उपन्यासों में निहित आंचलिकता के स्वरूप में भी अन्तर आता रहा है। आंचलिकता की प्रवृति के छिटपुट प्रयोग से लेकर, आंचलिकता के विशुद्ध एवं समग्र प्रयोग तक की यात्रा इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने आंचलिक उप-न्यास को एक अलग औपन्यासिक प्रकार के रूप में मान्यता ही नहीं दिलाई, वरन् वे आंचलिक उपन्यासों के बहुतायत से प्रणयन के प्रेरक भी रहे हैं। 'रेणु' से पूर्व हिन्दी के उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति की शुरुआत कहां से होती है, 'रेणु' के उपन्यासों में प्राप्त आंचलिकता की इस पृष्ठभूमि को जानना अत्यन्त आवश्क है।

'हिन्दी में आंचलिकता की प्रवृत्ति की खोज प्रारम्भ में लिखे गये उपन्यासों से की जाती रही है। यह सच भी है कि उपन्यास-विधा के प्रारम्भ में ही अनेक उपन्यासकारों ने आंचलिकता के प्रयोग की कोशिश की है, परन्तु वे सफल नहीं हो सके। इस दृष्टि से शिवपूजन सहाय का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। परन्तु 'देहाती दुनिया' को आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'देहाती दुनिया' में शुद्ध आंचलिकता की स्थापना नहीं हो सकी।'[1] अवश्य ही आंचलिकता के प्रयोग की कोशिश लेखक ने की है।

आलोचकों के द्वारा शिवपूजन सहाय, मन्नन त्रिवेदी और जगन्नाथदास चतुर्वेदी ही नहीं, यहां तक कि प्रसिद्ध तिलस्मी-धारी उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों

---

1. डॉ० नगीना जैन : 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास', पृ० 129

में भी आंचलिकता की प्रवृत्ति की शुरुआत मानी जाती है। खत्रीजी के उपन्यासों में पूर्वांचल के ऐतिहासिक स्थलों का ही वर्णन है, परन्तु ऐतिहासिकता नदारद है और कल्पना तथा रहस्य का पुट भी प्रचुर मात्रा में है। इसलिए ये उपन्यास न तो ऐतिहासिक हैं और न आंचलिक। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार—'ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः मुस्लिम काल के इतिहास से सामग्री लेकर लिखे गये, किन्तु उनमें इतिहास-तत्त्व की कमी है। लेखकों ने इतिहास की ऐसी घटनाओं का चयन किया है, जो पाठकों के कुतूहल एवं रहस्य-वृत्ति को पुष्ट कर सके।'[1]

हिन्दी में विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों में निहित आंचलिकता का स्वरूप इन उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः खत्रीजी का उद्देश्य ऐतिहासिक व आंचलिक उपन्यास लिखना नहीं रहा। उनका लक्ष्य रोमांच, कल्पनाप्रधान तिलस्मी ऐयारी उपन्यासों द्वारा जनता की कौतूहल वृत्ति जानकर, हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए बड़ी संख्या में पाठकों को तैयार करना और नैतिक निष्ठा एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा करना भर था।

यथार्थता, जो आंचलिक उपन्यास की एक महत्वपूर्ण विशेषता है, उससे कोरी कल्पना से युक्त ये उपन्यास कोसों दूर हैं। कहा भी गया है—'जिस प्रकार 'पंचतन्त्र' व 'हितोपदेश' बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गये, उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए, पर यह सम्भव है कि इस असम्भव पर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता, वीरेन्द्र सिंह इत्यादि पात्र और इनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं, तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है, इसका यह एक छोटा-सा नमूना है। चन्द्रकांता में जो बातें लिखी गयी हैं, वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठकों का कौतूहलवर्द्धन हो।'[2]

उपरोक्त इस कथन से सिद्ध है कि खत्री जी के उपन्यासों में यथार्थ-चित्रण वास्तविकता के स्तरों पर नहीं है। पाठकों के कौतूहल के लिए विशुद्ध कल्पना का प्रयोग है।

राजेन्द्र यादव ने 'चन्द्रकांता' की भूमिका में लिखा है कि—'खत्री जी के सारे तिलिस्मी चमत्कार, ये आदर्शवादी, परम नीतिवान, न्यायप्रिय सत्य निष्ठावान राजा या राजकुमार, परियों-जैसी खूबसूरत और अबला नारियों या बिजली की फुर्ती से जमीन-आसमान एक कर डालने वाले ऐयार—सब एक खूबसूरत स्वप्न के ही प्रक्षेपण हैं—आसपास फैली ठीक उसकी उलट दुनिया से बच निकलने के चोर-दरवाजे या पलायन-द्वार।'[3]

खत्रीजी के उपन्यासों और आंचलिक उपन्यासों में तत्त्व तो औपन्यासिक ही रहते हैं, परन्तु उन तत्त्वों के निरूपण में भिन्नता की वजह से खत्री जी के उपन्यासों और

---

1. डा० नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० 520
2. आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० 106
3. राजेन्द्र यादव : चन्द्रकांता : भूमिका

आंचलिक उपन्यासों में बड़ा भारी फर्क आ जाता है। खत्री जी के उपन्यासों में अनेकानेक कथाओं के प्रयोग के बावजूद कथात्मकता, उसके प्रवाह और एकसूत्रता को क्षति नहीं पहुंचती। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता को समग्रता में चित्रित करने की प्रवृत्ति कथात्मक एकता एवं कथा-प्रवाह में बाधा डालती है। डॉ० नगेन्द्र का प्रेमचन्द-पूर्व तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों के विषय में यह कथन द्रष्टव्य है कि जो खत्री जी के उपन्यासों के लिए भी पूर्णतः सच है—'इनसे रहस्य-रोमांचप्रिय सस्ती कल्पना की पुष्टि मिलती थी। प्रायः कोई सुन्दरी राजकुमारी किसी रहस्यमयी तिलस्मी इमारत में कैद हो जाती थी। उसका प्रेमी राजकुमार अपने हरफनमौला ऐयार की सहायता से तिलस्म तोड़कर उसका उद्धार करता था।'

उपरोक्त कथन से स्पष्ट जाहिर है कि उपन्यासकार द्वारा ऐसी कथावस्तु उठाये जाने पर आंचलिकता के निर्वाह का इन उपन्यासों में कोई स्थान नहीं हो सकता। खत्री जी के उपन्यासों का स्वरूप आंचलिक उपन्यासों के समान नहीं है। इनके उपन्यासों में पात्र भी कथा में गति तथा एकसूत्रता बनाये रखने में सहायक होते हैं और शिल्प भी गठा हुआ है। इसके विपरीत आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता को और अधिक पुष्ट करते हैं, कथा में गति तथा एकसूत्रता स्थापित करने में कोई विशेष सहयोग नहीं देते। इसके अतिरिक्त आंचलिक उपन्यासों में शिल्पगत बिखराव भी पाया जाता है। उपरोक्त विवेचन में स्पष्ट है कि खत्री जी के उपन्यासों में पूर्वांचल के ऐतिहासिक स्थलों का वर्णन होने पर भी उद्देश्य के आंचलिक उपन्यासों में प्राप्त आंचलिकता के प्रयोग से भिन्न होने के कारण आंचलिक उपन्यास नहीं कहे जा सकते। स्थानीय रंगत और रंगीन दुनिया का समाज मात्र उन्हें आंचलिक नहीं बनने देता है यह एक बात है, परन्तु उपन्यासों का पूरा संसार सीमित क्षेत्र के अतिपरिचित सम्बन्धों और स्थलों की याद अवश्य दिलाता है। सभी पात्र एक सीमित संसार के ही पात्र हैं, भले ही वह काल्पनिक हों। यह तथ्य 'आंचलिकता' की प्रवृत्ति का प्रारूप है। विश्वास, परम्पराएं, पहनावे, आचरण, रिश्ते और रूढ़ियों, भौगोलिक दूरी आदि मिलकर एक संस्कृति क्षेत्र का संकेत करते हैं। इसलिए डॉ० नगेन्द्र का कथन बहुत महत्त्वतूर्ण नहीं लगता है। 'कुसुमकुमारी' और 'काजर की कोठरी' में भी यही सम्बन्ध-भावना क्षेत्र का निर्धारण करती है। भले ही कहानी प्रेम-प्रसंग, सम्पत्ति, छल-फरेब और क्षेत्र प्रेमी निष्ठा के ताने-बाने में बुनी हो। एलेन टेट और टी० एस० इलियट ने, आंचलिकता और प्रांतीयता की द्विभाजिकताओं पर विचार करते हुए, आंचलिकता की इस अमूर्त प्रकृति की ओर संकेत किया है। एलेन टैड ने अमेरिका के 'दक्षिणी उपन्यासों' पर विवेचन करते हुए आंचलिकता को प्रांतीयता से अधिक मूल्यवान प्रवृत्ति माना है और उसकी प्रमुख विशेषता बताया है कि वह 'देश में सीमित तो होता है, परन्तु काल में नहीं।'[1]

देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में यह विशेषता अवश्य है लेकिन इन विशेषताओं के होते हुए भी उन्हें आंचलिक नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः उन्हें प्राक्-आंचलिक

1. एलेन टेट, 'द एसेस आफ फोर डिकेड्स' में संकलित लेख 'द न्यू प्राविन्स'

ही कहना चाहिए ।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त जासूसी, सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए । अंग्रेजी जासूसी उपन्यासों की प्रेरणा से लिखे गए व बंगला उपन्यासों से प्रभावित गोपालराम गहमरी ने 'अद्भुत लाश', 'गुप्तचर', 'सरकटी लाश', 'चक्करदार चोरी', 'जासूस की भूल', 'जासूस पर जासूसी', 'जासूस चक्कर में', 'इन्द्रजालिक जासूस', 'गुप्त भेद', 'जासूस की ऐयारी' प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास लिखे । दुर्गाप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और जयरामदास ने भी जासूसी उपन्यास लिखे । कल्पना एवं रहस्ययुक्त ऐतिहासिक उपन्यासों में, जो वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यास कहलाये जाने-योग्य नहीं हैं, किशोरीलाल गोस्वामी-द्वारा रचित 'तारा वा क्षत्रकुलकमलिनी' हिंदी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास कहा जाता है । इसके अलावा गोस्वामीजी के 'चपला', 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'आदर्श सती' भी तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यासों में गिने जाते हैं । गोस्वामीजी की ही भांति, जयरामदास गुप्त के 'कश्मीर पतन', 'रोशनआरा', ब्रजनन्दन सहाय का 'लालचीन', बालमुकुन्द वर्मा के 'कामिनी', 'गुलाब', 'मालती', बलदेव मिश्र के 'अनारकली', 'पानीपत', गंगाप्रसाद गुप्त के 'नूरजहां', 'कुमार सेनापति,' 'हम्मीर' इत्यादि अन्य उपन्यास भी ऐतिहासिक उपन्यास माने जाते हैं ।

इन उपन्यासों में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-चेतना का हल्का स्पर्श, मातृभूमि के प्रति निष्ठा, अतीत के गौरव के प्रति प्रेम, स्वार्थ, दया, शरणागति आदि परम्परागत मूल्यों के प्रति चलताऊ लगाव पाया जाता है । इनमें किसी प्रकार का स्थानीय प्रेम या भौगोलिक निष्ठा नहीं है । ऐतिहासिकता भी एक कालखण्ड और घटनाक्रमों की किस्सागोई से ही सम्बद्ध है । पात्रों या चरित्रों की व्यक्तिमयता का प्रायः अभाव है । बदलते हुए समाज को जोड़े या पकड़े रहने का भाव यथार्थविहीन आदर्शवादिता में रूपांतरित होकर, इन उपन्यासों को 'ट्रैजिक' ही बनाता है ।

इस युग के उपन्यास-लेखकों में किशोरीलाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में उन्हें 'साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए' लिखा है ।[1] इनके उपन्यासों में भाषा की दृष्टि से स्पष्ट आंचलिकता मिलती है । विशेषकर उर्दू और संस्कृत को लेकर उन्होंने उस युग में प्रचलित सभी प्रकार के उपन्यास लिखे । डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कहना है— 'उपन्यास-लेखकी में किशोरीलाल गोस्वामी का वही स्थान है, जो नाटककारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है ।'[2]

उपन्यास रचना का प्रारम्भिक चरण होने से प्रेमचन्द-पूर्व लगभग सभी उपन्यासों में औपन्यासिक प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते । औपन्यासिक कलात्मकता की जगह उपदेशात्मकता मिलती है और किसी गम्भीर विषय का चित्रण भी नहीं मिलता । समस्याओं को सुलझाने के लिए सतही स्तर पर थोपे हुए आदर्शों एवं उपदेशों की भरमार है । कोई

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 341
2. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० 179

महत् उद्देश्य न होने से स्तरीय मनोरंजन का भी अभाव है।

'क्योंकि उद्देश्य अत्यन्त स्थूल था, इसलिए उनका मनोरंजन भी सतही रहा, उसमें मन को छूने वाली गहराई मर्मस्पर्शिता का अभाव रहा और उपदेश में भी सूक्ष्मता एवं सांकेतिकता का अभाव बना रहा। उसमें अनुभूति की तीव्रता नहीं है, जो कुछ है निर्बन्ध कल्पना का विलास और सतही बुद्धि का वैभव। यही उसमें प्राणतत्व की कमी का कारण है। किसी स्पष्ट वैचारिक दृष्टिकोण के अभाव में उन उपन्यासों में जो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं, वे हैं गम्भीरता का अभाव, अंग्रजी उपन्यासों का अनुकरण और पात्रों की अवहेलना कर घटना पर दृष्टि जमाना।'[1]

प्रेमचन्द-पूर्व किसी भी उपन्यासकार ने स्थानीयता की रंगतों का प्रयोग नहीं किया है। इस युग के लेखकों ने कथात्मक एकसूत्रता तो बनाये रखी, परन्तु पात्र एवं औपन्यासिक कलात्मकता के साथ न्याय नहीं कर पाये। इन उपन्यासों को कौतूहल, कल्पनात्मकता, नाटकीयता, उपदेशात्मकता और आदर्शवादिता के कारण खासी क्षति पहुंची। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, शिल्प, उद्देश्य सभी दृष्टियों से ये उपन्यास अपरिपक्व हैं। प्रतापनारायण टण्डन का आरोप है कि—'पूर्ववर्ती उपन्यासों के कथानक घटनाओं के भार से इतना दबे रहते थे कि न तो उनकी कथानक-शिल्प की विशेषताएं ही उभर पाती हैं और न किसी पात्र की चरित्रगत विशेषता ही।—इनमें घटना-वैचित्र्य और चमत्कार-सृष्टि की प्रवृत्ति की प्रधानता थी। शिल्परूपों की दृष्टि से इस प्रकार की कथाओं में नाटकीयता का समावेश भी बहुत मिलता है।'[2]

प्रेमचन्द-पूर्व इन उपन्यासों में पात्रों का चरित्र-चित्रण भी भली प्रकार नहीं हो पाया। पात्रों का चारित्रिक विकास न दिखाकर, घटनाओं या कथा-विकास में उनका उपयोग किया गया है। उनका आदर्शवाद चारित्रिक स्वाभाविकता में से उद्भूत न होकर, ऊपर से लादा गया प्रतीत होता है। घटना-प्रधान तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों में पात्रों की स्थिति और भी दयनीय है। ये पात्र प्रायः लेखक के हाथ की कठपुतली होते हैं। लेखक अपनी इच्छानुसार उन्हें नचाता है। पात्रों की विशिष्टता, और उनके स्वभाव की सामाजिक पृष्ठभूमि को जरा भी महत्त्व नहीं मिलता। डॉ० शिवपहादुर भदौरिया के अनुसार 'चरित्र-चित्रण एवं मानसिक (विचार-तरंग) तथा भावनाओं को भी महत्त्व नहीं मिल सका। पाठकों की चेतना केवल पात्रों के बहिरंग को ही अनुभूत कर सकती है।'[3]

साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यासों का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। ये उपन्यास की सामाजिक प्रकृति या प्रतिबद्धता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। आलोचकों ने इस काल के उपन्यासों को हिन्दी की औपन्यासिक परम्परा की ऐतिहासिकता की दृष्टि से ही उल्लेखनीय माना है, साहित्यिक उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं। इस युग के औपन्यासिक महत्त्व के विषय में शिवनारायण श्रीवास्तव

---

1. श्री ब्रजनन्दन सहाय : राधाकांत की भूमिका
2. डा० प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, पृ० 243
3. डा० शिवबहादुर भदौरिया : हिन्दी उपन्यास, सृजन और प्रक्रिया, पृ० 133

ने लिखा है—'हिन्दी उपन्यास के स्वरूप व लक्ष्य को उन्नत बनाने में ये रचनाएं सर्वथा असमर्थ रहीं। कोरी कल्पना और मनोरंजन में उलझी हुई इस काल की औपन्यासिक शिल्प-विधि बुद्धि और भावना के क्षेत्र से बहुत दूर आ पड़ी थी। मानव-जीवन की यथार्थता से पोषण प्राप्त न करने के कारण इसका क्षेत्र संकुचित और स्वरूप अविकसित रहा। उपन्यास-शिल्प की इस अनगढ़ता की ओर संकेत करते हुए इन रचनाओं को दादी-नानी वाली कहानियों के विकसित रूप की संज्ञा दी गई है।'[1]

इन कमियों पर गौर करने से पहले इस बात पर भी ध्यान जाना चाहिए कि प्रेमचंद-पूर्वउपन्यासों के प्रौढ़ व परिनिष्ठित न होने का सबसे बड़ा कारण उपन्यास-विधा की प्रारम्भिक अवस्था है। इस काल की यही सबसे बड़ी उपलब्धि है कि इस काल में उपन्यास-विधा की नींव पड़ी तथा हिन्दी का प्रभूत मात्रा में प्रचार-प्रसार भी इसी काल में हुआ।

भारतेन्दु-युग की एक विशेषता को ध्यान में रखना चाहिए कि लोकगीतों, ग्राम-धुनों और स्थानीय विशेषताओं की ओर भारतेन्दु ने बार-बार ध्यान दिलाया है। एक अर्थ में भारतेन्दु युगीन निबन्धकार हैं। साथ ही, ब्रजभाषा कविताओं के बरबस खड़ी बोली गद्य का प्रयोग भी एक खाई का निर्माण करता है, जिसके कारण इस काल के गद्य में बोलीपन और स्थानीयता पाई जाती है। प्रतापनारायण मिश्र अपनी सम्पूर्णता में आंचलिक निबन्धकार ही हैं।

उपन्यासों के विषय में विश्लेषण करते समय, जैसा कि सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने कहा है कि 'उपन्यास में दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन का महत्त्व उपन्यास की परिभाषा में ही निहित है'— दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन पर सदा ध्यान रखना चाहिए। प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों के जीवन-दर्शन और प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन में बहुत अन्तर है। मनुष्य की पहल पर बदलाव होता है। बदलाव की कोशिश तो सर्वत्र है ही, परन्तु प्रेम-चन्द के पूर्व मानवीय हस्तक्षेप प्रायः नहीं पाया जाता है। इसलिएं प्रेमचन्द-पूर्व की आंचलिकता और प्रेमचन्द के बाद की आंचलिकता में दृष्टिकोण के बदलाव का स्पष्ट आभास है। नागार्जुन और रेणु में उपन्यासों की आंचलिकता का अन्तर जहां उनके दृष्टिकोण का अन्तर है, वहीं प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में वह अतीत के प्रति मोह और आग्रह एक प्रकार की संकीर्णता को पकड़े रहने की आंचलिकता है। और इस दृष्टिकोण से विवेचन करने पर नागार्जुन प्रेमचन्द-पूर्व आंचलिकता के प्रतिनिधि लगते हैं और रेणु प्रेमचन्दोत्तर आंचलिकता के, क्योंकि रेणु की स्थानीयता केवल देश में है, काल में नहीं। जबकि नागार्जुन की देश और काल, दोनों में है। इसलिए आंचलिकता एक शक्तिशाली स्रोत के रूप में भारतेन्दुयुगीन साहित्य में ओत-प्रोत है। यह अवश्य है कि उसे अलग से विशिष्टता नहीं प्रदान की गई है। 'परीक्षागुरु' में इस प्रवृत्ति का प्रयोग शिल्प के स्तर पर किया गया है।

---

1. शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास, पृ० 7०

विजयदेवनारायण साही ने जिस तर्क से 'नदी के द्वीप'[1] में आंचलिकता की खोज की है, लगभग वही स्थिति 'परीक्षागुरु' में है, क्योंकि इसमें एक छविमयता के निर्माण की कोशिश है, जो भारतेन्दु-युग में भी मिलती है। प्रेमचन्द की विशेषता है कि उन्होंने इस खाई को पीटने का प्रयत्न किया है।

प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों में दो-तीन उपन्यासकार ऐसे दिखाई देते हैं, जिनके उपन्यासों का आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में अक्सर उल्लेख किया जाता रहा है। एक तो स्वयं प्रेमचन्द, दूसरे वृन्दावनलाल वर्मा और सूर्यकान्त 'निराला'। ये उपन्यास आंचलिकता के तत्त्वों से युक्त होने पर भी आंचलिक उपन्यास की कोटि में नहीं आते। वस्तुतः रचना में वास्तविकता एवं स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए आंचलिकता का प्रयोग किया गया है।

प्रेमचन्द का उद्देश्य उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं—किसान-मजदूर-समस्या, हरिजन-समस्या, मध्यवर्गीय जीवन की समस्याएं, वेश्या-समस्या, विधवा विवाह की समस्या, बाल-विवाह एवं अनमेल विवाह की समस्या—का चित्रण करना था। प्रेमचन्द की दृष्टि में किसी अंचल या प्रान्त को जीवन्तता प्रदान करने की अपेक्षा मानव के सुख-दुःख, स्वभाव उसकी परिस्थितियों एवं समस्याओं पर प्रकाश डालना अधिक श्रेयस्कर था। उन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज के विविध पहलुओं को उजागर किया है, अंचल-विशेष को चित्रित नहीं किया। उन्होंने आंचलिक अनुभूति को व्यापक स्तर पर चित्रित कर सामान्यता प्रदान की है। उनके उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति अवश्य मिलती है, परन्तु स्थानीय वातावरण के निर्माण के रूप में ही। उनके उपन्यासों में स्थानीय रंग मिलता है, आंचलिक उपन्यास से सम्बद्ध विशिष्ट आंचलिकता नहीं। उनका बल सामान्यता पर है, विशिष्टता पर नहीं।

डॉ० रामदरश मिश्र का विचार है—'प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्राम-जीवन की छवि है, किन्तु प्रेमचन्द के गांव स्थानीय रंगत के बावजूद गांव-विशेष नहीं हैं सामान्य हैं। आवश्यकतानुसार कहानी एक गांव से दूसरे, तीसरे गांव या शहर तक संक्रमण करती चलती है। यानी प्रेमचन्द को स्थान-विशेष के जीवन का चित्रण करना प्रिय नहीं है, वरन् सामान्य समस्याओं और जीवन-मूल्यों की कथा कहना अभिप्रेत है। कथानक पर उपन्यासकार का ध्यान केन्द्रित रहता है, न कि अंचल-विशेष पर।'[2]

अपने सामाजिक उपन्यासों में वास्तविकता एवं सजीवता उत्पन्न करने के लिए ही प्रेमचन्द ने आंचलिकता का सहारा लिया है। आंचलिकता के माध्यम से ग्राम-सामान्य की समस्याओं को ही चित्रित करना उनका अभिप्रेत रहा है, आंचलिक उपन्यासों में चित्रित ग्राम-वैशिष्ट्य को नहीं। उनके उपन्यासों का स्वरूप भी आंचलिक उपन्यासों से मेल नहीं खाता। प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रायः मुख्य और कई आनुषंगिक कथाएं होती हैं, जो नाटकों के 'पताका' तथा 'प्रकरी' की तरह यथार्थ का फलक विस्तृत करने के साथ

1. लेखक—अज्ञेय
2. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, एक अन्तर्यात्रा, पृ० 225

ही कथा को बल प्रदान करती हैं, जबकि आंचलिक उपन्यासों में अंचल ही कथा होता है। पूरा रचना-विकास अंचल की सम्पूर्ण यथार्थता को उसकी सीमा और विशिष्टता के साथ प्रकट करने के लिए प्रतीक बन जाता है। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में वह एक 'संकेत' हो जाता है।

आंचलिक उपन्यासों के समान सभी पात्रों के व्यक्तित्व का प्रयोग जीवंत अंचल नायक का विशिष्टताओं को उभारने के लिए नहीं किया जाता। आंचलिक उपन्यास की एक विशेषता शिल्पगत बिखराव भी 'गोदान' को छोड़कर प्रेमचन्द के अन्य किसी भी उपन्यास में नहीं है, परन्तु 'गोदान' में बिखराव का कारण आंचलिकता नहीं है, वरन् समूचे राष्ट्र की भावी समस्याओं तथा गतिविधियों को दृष्टि-पथ में रखकर किया गया उपन्यास का प्रणयन है। और चूंकि राष्ट्र का जीवन पारिवारिक जीवन के समान सुगठित नहीं हुआ करता, फलतः इस उपन्यास के कथानक में भी कृत्रिम सुगठितता के स्थान पर एक स्वाभाविक बिखराव आ गया, लेकिन यही पूरे परिदृश्य को अर्थगर्भ, विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने का एक सफल माध्यम बन गया है। वस्तुतः ग्राम्य जीवन के अत्यन्त सरस एवं सजीव वर्णन के साथ ही साथ शहरी जीवन की छविमयता का स्वरूप 'गोदान' में आंचलिकता का भ्रम उत्पन्न करता है। इसलिए कहीं-कहीं आंचलिकता के तत्व भी मिलते हैं। किन्तु प्रेमचन्द की दृष्टि एक अंचल-विशेष तक सीमित न रहकर, राष्ट्रीय है। उनके द्वारा सम्पूर्ण समाज अभिचित्रित हुआ है।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड की संस्कृति एवं इतिहास का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'माधोजी सिंधिया', 'भुवन-विक्रम' इत्यादि उपन्यासों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए आंचलिकता का प्रयोग हुआ है। शम्भूसिंह भी वर्माजी के उपन्यासों को ऐतिहासिक ही मानते हैं—'वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में इसी तरह कुछ प्रवृत्तियां हैं, जो आंचलिकता की प्रवृत्ति के अनुकूल पड़ती हैं। इस भ्रम से कई आलोचक 'मृगनयनी' को आंचलिक उपन्यास मानने लग गये। उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ड का चित्रण उजागर हुआ। बुन्देलखण्ड के जन-जीवन को विगत की पृष्ठभूमि पर अंकित करने से ये उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यासों की परिधि में परिगणित कर लिए जाते हैं।'[1]

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में खत्री जी, किशोरीलाल गोस्वामी-प्रभृति पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के उपन्यासों की अपेक्षा ऐतिहासिकता कीं प्रवृत्ति और आंचलिकता सुस्पष्ट और मुखर है। लेकिन यहां भी लगभग वही स्थिति है, जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है। वर्माजी का उद्देश्य ऐतिहासिक उपन्यास लिखना है, आंचलिक नहीं। उद्देश्य की इस भिन्नता का प्रभाव उनके सम्पूर्ण औपन्यासिक रचना-विधान पर पड़ा है। वर्माजी का औपन्यासिक रचना-विधान आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान से पूर्णतः भिन्न है। वर्माजी के उपन्यासों और आंचलिक उपन्यासों में भाषिक स्तर पर तो समानता

---

1. शम्भूसिंह : रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास, पृ० 25

यह है कि दोनों में ही आंचलिक बोली का पुट मिलता है, परन्तु उद्देश्य, रूप, शिल्प के स्तर पर वर्माजी के उपन्यासों में आंचलिकता नहीं मिलती। इनके उपन्यासों में रचना-विधान के सभी अंगों का प्रयोग तथा आंचलिकता का समाहार ऐतिहासिक परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है, किन्तु आंचलिकता का समग्रता में चित्रण वर्माजी का उद्देश्य नहीं रहा है। अतः बर्माजी के उपन्यास ऐतिहासिक हैं, आंचलिक नहीं। यही मत 'भारतीय साहित्य कोश' में भी व्यक्त किया गया है—

'ऐतिहासिक उपन्यास पुस्तकीय ज्ञान अथवा अनुमान पर आधारित होता है, जबकि आंचलिक उपन्यास के लिए लेखक का सूक्ष्म निरीक्षण, स्वानुभव और अंचल के प्रति आत्मीयता आवश्यक है। ऐतिहासिक उपन्यासों में आंचलिकता हो सकती है, जैसे वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में, पर वे आंचलिक नहीं हैं। अतः आंचलिक उपन्यास एक स्वतंत्र विधा है।'[1]

प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों को देखते हुए यह बात कही जा सकती है कि विशुद्ध आंचलिकता के प्रयोग से रहित ये उपन्यास स्थानीय रंगत के कारण आंचलिक उपन्यास होने का भ्रम-मात्र उत्पन्न करते हैं।

प्रेमचन्द का उद्देश्य सामाजिक समस्याओं और वृन्दावनलाल वर्मा का उद्देश्य ऐतिहासिक विशेषताओं को प्रस्तुत करना था। इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त निराला के उपन्यासों में भी आंचलिकता के तत्व मिलते हैं, परन्तु प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों की ही भांति निराला के उपन्यासों में भी आंचलिकता का समग्र एवं विशुद्ध प्रयोग नहीं है।

'वस्तुतः 'बलचनमा' तथा 'मैला आंचल' से पूर्ववर्ती उपन्यासों—प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, निराला आदि के उपन्यासों की भांति निराला के उपन्यासों—में स्थानीय रंगत तथा क्षेत्रीयता के जो संस्पर्श मिलते हैं, वे सामाजिक, ऐतिहासिक यथार्थ के अंकन का सामान्य अंग हैं, किन्तु आंचलिक उपन्यासों की अंचल या जनपद विशेष को उभारने की विशिष्टता का उपकरण नहीं।'[2] अतः आंचलिक उपन्यास प्रेमचन्द-युग की उपलब्धि नहीं कहे जा सकते। इन उपन्यासों में प्रयुक्त स्थानीय रंगत आंचलिक उपन्यास की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। क्योंकि 'आंचलिक उपन्यास में स्थानीय रंगत के अतिरिक्त भी कुछ अन्य तत्वों का होना आवश्यक है।'[3]

प्रेमचन्द-पूर्व शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया', मन्नन द्विवेदी कृत 'रामलाल' और जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के 'वसन्तमालती' तथा और भी आंचलिक उपन्यास कहे जाने वाले उपन्यासों में आंचलिकता का स्थूल एवं सतही वर्णन हुआ है और प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में आंचलिकता का वह विशुद्ध एवं समग्र रूप नहीं मिलता, जो आंचलिक उपन्यास की प्रमुख शर्त है। आंचलिकता का विशुद्ध प्रयोग वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर

---

1. सम्पा० डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय साहित्य कोश', पृ० 81
2. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 556-557
3. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ०

काल में हुआ।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का समग्र एवं विशुद्ध प्रयोग न प्रेमचन्द से पहले, न प्रेमचन्द युग और न प्रेमचन्दोत्तर युग से स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व तक की अवधि में हुआ। प्रेमचन्दोत्तर युग से स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व तक तो मनोवैज्ञानिक और वैयक्तिक उपन्यास ही अधिक लिखे गये। आंचलिक उपन्यास के समक्ष अंचल ही साध्य होता है। अंचल को लेकर जिस रागात्मकता, और आस्था के साथ आंचलिक उपन्यासकार लिखता है, वह स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व तक के परम्परागत उपन्यासों में लुप्तप्राय है। इस अवधि तक अंचल-विशेष को यदि चुना भी गया है, तो उसे विशिष्ट नहीं वरन्, सामान्य बनाकर इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि रचना में स्वाभाविकता एवं सजीवता उत्पन्न की जा सके। आंचलिक उपन्यासकार का लक्ष्य उद्देश्य दृष्टिकोण, वस्तु, शिल्प, भाषा-संरचना, सभी दृष्टियों से परम्परागत उपन्यासों से भिन्न किसी विशिष्ट अंचल की विशिष्टताओं का परिचय कराना है। आंचलिक उपन्यास निर्विवाद रूप से स्वातंत्र्योत्तर औपन्यासिक प्रकार है।

डॉ० विवेकीराय के अनुसार—'स्थानीय-रंग-जैसी आंचलिकता प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी लक्षित की जा सकती है, परन्तु छठवें दशक में स्वतन्त्र देश की सर्वथा नवीन संवेदना और चुनौतियों को लेकर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में आन्दोलन की तरह उभरी आंचलिकता में जो शिल्पगत नवोल्लास था, वह अभूतपूर्व था।'[1]

रेणु (1954) से पूर्व आंचलिकता का समग्रता में प्रयोग नागार्जुन-द्वारा 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध' और 'बलचनमा' में, रांगेय राघव-द्वारा 'कब तक पुकारूं' में और अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में हो चुका है। ये उपन्यास' 'रेणु' के 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' के स्तर पर उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास तो नहीं हैं, लेकिन आंचलिक उपन्यास कहे जाने-योग्य आंचलिकता का पर्याप्त मात्रा में चित्रण इन उपन्यासों में जरूर हुआ है। इन उपन्यासकारों में भी नागार्जुन का आंचलिक उपन्यासकार के रूप में सर्वप्रथम स्थान है। रामदरश मिश्र के मतानुसार 'हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के आदि उन्नायक रूप में नागार्जुन का विशेष महत्त्व है।'[2]

डॉ० सुरेश सिन्हा भी इसी स्वर-में-स्वर मिलाते हुए हिन्दी का प्रथम ठेठ आंचलिक उपन्यासकार नागार्जुन को ही मानते हैं—'यों तो आंचलिकता का प्रवेश उपन्यासों में बहुत पहले ही हो चुका था, पर शुद्ध रूप से आंचलिक प्रवृत्तियों पर ही अपने उपन्यासों को आधारित करने वाले नागार्जुन हिन्दी के पहले आंचलिक उपन्यासकार हैं।'[3]

---

1. डॉ० विवेकी राय : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : परम्परा और प्रगति', 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास'—सं० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त, पृ० 17
2. डॉ० रामदरश मिश्र : 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृ० 208
3. डॉ० सुरेश सिन्हा : 'हिन्दी उपन्यास : उद्भव एवं विकास', पृ० 509

वास्तव में हिन्दी के उपन्यासों में विशुद्ध आंचलिकता का प्रारम्भ 'रेणु' के 'मैला आंचल' (प्रकाशन-वर्ष 1954) से नहीं, सन् 1948 में प्रकाशित नागार्जुन के प्रथम आंचलिक उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' से होता है। इसमें पहली बार आंचलिकता को समग्र रूप में चित्रित किया गया है। डॉ० उषा डोगरा का भी यही मत है, 'नागार्जुन ने सन् 1948 में प्रकाशित उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' में कथावस्तु में जिन पात्रों को लिया है, वे अंचल का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। यह विशुद्ध रूप में आंचलिकता के तत्त्वों से युक्त उपन्यास है। आंचलिक उपन्यासों की भूमिका में इसका योगदान अपना मौलिक महत्त्व रखने वाला है।'[1] अतः रेणु से पूर्व हिन्दी उपन्यासों में परिपक्व रूप में आंचलिकता की प्रवृत्ति की शुरुआत नागार्जुन के उपन्यासों से हो चुकी थी। यह अलग बात है कि रेणु ने अपने आंचलिक उपन्यासों में अत्यन्त आत्मीयता और आग्रहपूर्वक आंचलिकता का अपने पूर्ववर्ती आंचलिक उपन्यासों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत एवं निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया और जहां तक 'आंचलिक' विशेषण के हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में प्रयुक्ति और चर्चा के केन्द्र में आने का प्रश्न है, यह रेणु के 'मैला आंचल' के बाद की ही घटना है।

आंचलिकता के बारे में विचार करते समय हिन्दी आलोचना में फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' को केन्द्र में मानकर ही प्रायः विश्लेषण किया जाता है। वस्तुतः उपन्यास के क्षेत्र की आंचलिकता को कहानियों और निबन्धों के क्षेत्र की आंचलिकता से और हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी और बंगला के आंचलिक उपन्यासों से काटकर देखना असंगत है। 'रेणु' के 'मैला आंचल' पर सतीनाथ भादुड़ी लिखित 'ढोढाय चरित मानस' का प्रभाव माना ही जाता है। अंग्रेजी, रूसी और फ्रेंच भाषाओं के साहित्य में भी कथा-साहित्य के अन्तर्गत यह प्रवृत्ति मिलती है। टामस हार्डी का 'टेंस' और शोलोखोव का 'धीरे बहे दोन' तो प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इसलिए आंचलिक उपन्यास एक प्रकार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और मानवीय सम्बन्धों की अमानवीयता, शहरीकरण आदि के कारण कुछ सामाजिक और साहित्यिक प्रश्नों के उलट भी होते हैं। आंचलिकता के बगैर अच्छे साहित्य का विकास सम्भव नहीं होता है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य एक अर्थ में आंचलिक भी है और राष्ट्रीय भी। इसलिए आंचलिकता को कालविशेष और ऐतिहासिक, दोनों ही सन्दर्भों में व्याख्याखित करने की आवश्यकता अनुभव होती है और इसीलिए प्रेमचन्द-पूर्व और बाद की आंचलिकता में कालक्रमिक दृष्टि से अन्तर सिद्ध किया गया है।

(ख) आंचलिक उपन्यासों का इतिहास

आंचलिक उपन्यासों की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में कालक्रम की दृष्टि से पहले नागार्जुन के उपन्यासों का उल्लेख करना समीचीन होगा। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों

---

1. डॉ० उषा डोगरा : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का लोकतात्विक विमर्श : पृ० 49

द्वारा मिथिला अंचल को जीवन्तता प्रदान कर आंचलिक उपन्यास के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

'बलचनमा' नागार्जुन का सर्वश्रेष्ठ आत्मकथात्मक आंचलिक उपन्यास है। इसमें बिहार के दरभंगा जिले के एक ग्रामांचल के शोषण, संघर्ष और गरीबी की कथा है। 'बलचनमा' ही इस उपन्यास का नायक है, जो किसी कमीने परिवार से सम्बद्ध है। वह किसी भूस्वामी के यहां चरवाही करता है तथा मालिक-मजदूर संघर्ष में आहत होता है। 'रतिनाथ की चाची' में दरभंगा जनपद के पिछड़े और गरीब इलाके के त्रासद जीवन को चित्रित किया गया है। इसमें गरीब विधवा ब्राह्मणी गौरी की करुण जिन्दगी को उकेरा गया है। 'बाबा बटेसरनाथ' में बूढ़े वट-वृक्ष का मानवीकरण है। इसमें रुपउली ग्राम चित्रित है। 'वरुण के बेटे' में दरभंगा के निकट क्षेत्र के मछुओं की जीवन-शैली चित्रित है। 'दुखमोचन' में टमका कोहली की विशेषतायें देखने को मिलती हैं। 'नई पौध' में मिथिला के सौराठ के जीवन और परिवेश को आंचलिकता प्रदान की गई है।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार 'रेणु' की सर्वश्रेष्ठ आंचलिक कृति' 'मैला आंचल' में पूर्णिया जिले के मेरीगंज अंचल की अच्छाई और बुराइयों को सम्पूर्ण आस्था एवं रागात्मकता से चित्रात्मक शैली में अंकित किया गया है। भाषिक-संरचना की दृष्टि से रेणु के उपन्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'रेणु' का दूसरा महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास 'परती-परिकथा' है, जिसमें परानपुर गांव को पृष्ठभूमि बनाया गया है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संघर्ष को वाणी दी गई है। प्रमुख रूप से कृषि-क्रांति को महत्ता दी गई है। 'परती-परिकथा' में औपन्यासिक कला की दृष्टि से 'मैला आंचल' की अपेक्षा कम त्रुटियां हैं। 'रेणु' के तीसरे उपन्यास 'जुलूस' में गोडियार गांव की नवीननगर कॉलोनी को उपन्यास का क्षेत्र बनाया गया है।

उदयशंकर भट्ट के दो उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' और 'लोक-परलोक' आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई के बरसोवा गांव के मछुवारों का जीवन-संघर्ष चित्रित है। 'लोक-परलोक' में उत्तर प्रदेश के तीर्थग्राम पद्मपुरी का जीवन-चित्रण है। देवेन्द्र सत्यार्थी-रचित 'ब्रह्मपुत्र' में ब्रह्मपुत्र नदी-तटीय दिसांगमुख गांव के लोगों का जीवन चित्रित है। 'दूधगाछ', 'बेला फूले आधी रात', 'रथ के पहिये', 'धीरे बहो गंगा' इत्यादि सत्यार्थी जी के अन्य आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी संथालों और गोंड जाति के लोगों का जीवन चित्रित है। राजेन्द्र अवस्थी के 'सूरज किरन की छांव' में कालपी चित्रकूट के पार्श्ववर्ती आदिवासी क्षेत्र', 'जाने कितनी आंखें' में, बुन्देलखंड का जन-जीवन तथा 'जंगल के फूल' में बस्तर के आदिवासी क्षेत्र (मध्य प्रदेश) के घोटुल संस्कृति का विस्तारपूर्ण वर्णन है। रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में राजस्थान के निकट बैर गांव के जरायम पेशा करने वाले करनट जाति के बंजारों का चित्रण है। अल्मोड़ा के पर्वतीय अंचल को चित्रित करने वाले शैलेश मटियानी ने 'चिट्ठीरसैन' में पनार नदी के किनारे के गांव ऊडलगों में रहने वाले मोहन सिंह की विधवा रमौती और पीताम्बर चिट्ठीरसैन की प्रेमगाथा चित्रित की है। 'चौथी मुट्ठी' में कुमायूं अंचल के निवासियों कौशिला और मोतिमा मस्ताना की कथायें तथा 'हौलदार'

में एक ऐसे व्यक्ति डूंगरसिंह की जो हवलदार बनने की इच्छा से फौज में भर्ती होता है परन्तु प्रशिक्षण-काल में अपनी ही गोली से घायल होकर वापस गांव लौट आता है। उसके कुंठित और हीनभावनाग्रस्त मन का चित्रण करने में कुमायूं अंचल की विशिष्टता और आंचलिक-भाषा प्रयोग दिखाई देते हैं।

शिव प्रसाद सिंह 'अलग-अलग वैतरणी' में करेता गांव के माध्यम से भोजपुरी संस्कृति का चित्रण करते हैं। 'आधा गांव', पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के गंगौली गांव के लोगों के जीवन पर राही मासूम रजा-द्वारा लिखा गया आंचलिक उपन्यास है, जिसमें भोजपुरी, उर्दू का सुन्दर प्रयोग हुआ है, साथ ही आंचलिक गालियों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग है। रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर की पृष्ठभूमि गोरखपुर जनपद की राप्ती नदी का अंचल है। मिश्र जी ने अपने दूसरे उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में गोरखपुर जनपद की राप्ती नदी के उसी अंचल को उपन्यास-क्षेत्र बनाया है, परन्तु 'पानी के प्राचीर' स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व तथा 'जल टूटता हुआ' स्वातंत्र्योत्तरकालीन स्थितियों पर आधारित उपन्यास है। शानी ने 'कस्तूरी' में बस्तर के आदिवासी जनजाति तथा बलभद्र ठाकुर ने मणिपुर, नेपाल, कुलू और अंडमान-निकोबार अंचल की पृष्ठभूमि बनाकर 'मुक्तावती', 'नेपाल की वो बेटी', 'देवताओं के देश में', 'घने और बने' तथा 'लहरों की छाती पर' आदि उपन्यासों का सृजन किया है। मधुकर गंगाचर-द्वारा रचित 'सुबह होने तक' में बिहार की कोसी नदी की बाढ़ से उत्पन्न दृश्य; आनन्द प्रकाश जैन के 'आठवां भांवर' में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अंचल-विशेष; जयप्रकाश भारती के 'कोहरे में खोये चांदी के पहाड़' में जौनसार बाबर, जगदीशचन्द्र पाण्डेय के 'गगास के तट पर' में कुमायूं, सत्यप्रसाद पाण्डेय के 'चन्द्रवदनी' में पिछड़े पूर्वांचल तथा 'खारे जल का गांव' में विन्ध्य क्षेत्र, नरेन्द्रदेव वर्मा के 'सुबह के तलाश में' में छत्तीसगढ़, विवेकीराय के 'सोनामाटी' में गाजीपुर-बलिया के मध्यवर्ती क्षेत्र, नरेश मेहता के 'यह पथबन्धु था' में मालवा, मनोहरश्याम जोशी कृत 'कसप' में कुमाऊं, अमृतलाल नागर के 'सेठ बांकेलाल', हास्य-व्यंग्य प्रधान आंचलिक उपन्यास में आगरा तथा 'बूंद और समुद्र' में लखनऊ के चौक मुहल्ले, शिवप्रसाद रुद्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'बहती गंगा' में बनारस अंचल की विशिष्ट संस्कृति का चित्रण है। इसके अलावा अभिमन्यु अनन्त का 'एक बीघा प्यार', गोविन्द मिश्र का 'लाल-पीली जमीन', कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा' ऐसे अन्य उल्लेखनीय आंचलिक उपन्यास हैं, जिनमें अंचल विशेष के जीवन और वहां के परिवेश के नैसर्गिक सौन्दर्य का प्रभावी चित्रण हुआ है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन उपन्यासों में आंचलिकता के प्रति रोमानी भाव भी है और वर्तमान के दबाव से टूटते सम्बन्धों की त्रासद प्रतीति भी। रेणु के उपन्यासों में राजनैतिक सजगता के कारण एक प्रकार की लोकदृष्टि भी मिलती है। आंचलिक उपन्यासों में वर्तमान जीवन-सन्दर्भों से अतीत के सामुदायिक जीवन पर दृष्टि डालने के कारण पूरा अंचल कई कोणों से प्रस्तुत किया गया है। इसलिए आंचलिक उपन्यासों में दृष्टि के इस बदलाव का व्यापक महत्त्व है। नागार्जुन, मटियानी, रेणु और मनोहरश्याम जोशी के उपन्यासों में दृष्टिकोण की प्राथमिकताएं आंचलिकता की

परिभाषा को भी बदलती हैं।

वर्तमान समय में आंचलिक उपन्यासों का सृजन कम होते जाने का कारण है—बाहरी प्रभावों का विशिष्टांचलों पर बढ़ता प्रभाव तथा लेखकों का यह संकोच कि उनको रचना एक वर्ग-विशेष या अंचल विशेष के पाठकों तक सीमित हो जायेगी। वास्तव में आंचलिक उपन्यासों ने उपन्यासों के बहुआयामी व्यक्तित्त्व को समृद्धि प्रदान कर देश के विभिन्न अंचलों की विशिष्ट संस्कृति एवं जीवन-शैली से हमें परिचित कराया है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यास के इतिहास से यह स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में आंचलिक उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आंचलिकता ने उपन्यासों में राष्ट्रीयता की भावना को बल ही नहीं दिया है, बल्कि शुद्ध आर्थिक और व्यावहारिक सम्बन्धों से हटकर ऐसी स्वतंत्र इकाई का निर्माण भी किया है, जो तथाकथित जड़विहीन संस्कृति का आधार बन सकती है। भावहीनता और अकेलेपन की दुनिया में आंचलिक उपन्यास एक प्रकार के प्रत्युत्तर भी हैं।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यास

(क) अनुभव-सन्दर्भ और दृष्टि

रचना में सजीवता, स्वाभाविकता और यथार्थता उत्पन्न करने के लिए लेखक का अनुभवसम्पन्न होना बहुत जरूरी है। अपना दृष्टिकोण लेखक इन्हीं अनुभव-सम्पदाओं के माध्यम से व्यक्त करता है। अनुभवविहीन रचना केवल हवाई बनकर रह जाएगी। हम उससे अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते। इसलिए 'उच्चकोटि का कथाकार जीवन के उन्हीं पहलुओं का चित्रण करता है, जिनसे वह सुपरिचित है।'[1]

लेखक अनुभवों को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत नहीं कर सकता। वह अनुभवों का प्रयोग उपन्यास में अपने दृष्टिकोण के अनुसार करता है। लेखक का अनुभवी होना यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के लिए ही जरूरी नहीं होता, वरन् उपन्यास में रचनात्मक सौन्दर्य तथा कलात्मक निखार के लिए कल्पना के जो रंग वह भरता है, उसमें भी यथार्थता का अहसास कराने की जिम्मेदारी चूंकि उस पर रहती है, इसलिए भी अनुभव की महत्ता उपन्यास में असंदिग्ध है। प्रेमचन्द की यह भविष्यणवाणी पूर्णत: खरी उतरी—'कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खड़े हों।'[2]

जब सामान्य प्रकार के उपन्यासों तक में अनुभव की महत्ता इस सीमा तक अपरिहार्य है, तो आंचलिक उपन्यास, जिसमें कि किसी विशिष्ट अंचल को उसकी गहरी यथार्थता के साथ पेश करना होता है, अनुभव की उपयोगिता का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

आंचलिक उपन्यास अंचल के गहरे, व्यापक तथा प्रामाणिक अनुभव के बगैर लिखे ही नहीं जा सकते। अनुभव जितना गहरा होगा, वर्णनात्मकता के फलक पर ही नहीं, बल्कि प्रभाव के स्तर पर भी आंचलिकता उतनी ही मुखर होगी। अंचल को सम्पूर्णता में वर्णित करने की दृष्टि आंचलिक जीवन जिये बिना, या अंचल को एकदम

---

1. डॉ० देवराज : 'हिन्दी उपन्यास का धरातल,' 'आलोचना', अक्टूबर 1954, पूर्णांक 13, पृ० 162
2. 'प्रेमचन्द : कुछ विचार'—'उपन्यास का विषय' : पृ० 68

निकट से देखे-परखे बिना सम्भव ही नहीं है। हिन्दी के श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों-द्वारा इस बात को भलीभांति समझा जा सकता है।

हिन्दी के अनेक उपन्यासकारों ने गहरे अनुभव से, या भलीभांति देख-परखकर ही अंचल-विशेष का चित्रण किया है, इसीलिए उनके उपन्यासों में आंचलिक जीवन का वास्तविक एवं जीवन्त चित्रण मिलता है। रांगेयराघव, रामदरश मिश्र, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, गोविन्द मिश्र, रेणु और नागार्जुन आदि अधिकांश उपन्यासकारों का तो जन्म भी अपने-अपने चित्रित अंचलों में ही हुआ है। उदयशंकर भट्ट जरूर अपवाद हैं। उनका सुप्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास बम्बई (महाराष्ट्र) की पृष्ठभूमि पर आधारित है।

अंचल का मूल निवासी होने पर उपन्यासकार वहां की आत्मा को उकेर सकता है, अपनी कृति में। इस दृष्टि से यह कथन महत्वपूर्ण ही कहा जाएगा कि—'नागार्जुन मिथिला के पीड़ित किसान के घर में जन्म लेकर आज सूर्य की भांति चमक रहे हैं। वे स्वयं ही बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ और वरुण के बेटे हैं। इनके कठोर अनुभवों की ज्वाला में तपकर उनकी प्रतिभा सोने के समान चमकी है।'[1]

हिन्दी के मुख्य आंचलिक उपन्यासों में अनुभव प्रभावशाली ही नहीं हैं, वरन् प्रामाणिक होने का भी पूरा आभास देते हैं। अंचल के सम्बन्ध में रेणु की अनुभव सम्पन्नता के सन्दर्भ में डॉ० बद्रीप्रसाद कहते हैं—'रेणु ने ग्रामीण अंचल के जीवन को अपनी नंगी आंखों से देखा ही नहीं था, बल्कि वह स्वयं इसके भोक्ता बनकर उसका अहसास कर चुके थे। भारतीय किसानों एवं मजदूरों की जिन्दगी को अत्यन्त नजदीक से जैसे प्रेमचन्द ने देखा और भोगा था, वैसा ही रेणु ने भी किया, किन्तु रेणु ग्रामीण जनता के साथ भारतीय सम्बन्ध जोड़ने के लिए आंचलिक परिवेश में जितनी गहराई से पगे हैं, उतने प्रेमचन्द भी नहीं पगे। इसीलिए इनकी कृतियों में वर्णन की तटस्थता नहीं है, बल्कि उनके द्वारा प्रस्तुत समस्त जन-जीवन के चित्र मानो उनके भोगे हुए जीवन के चित्र हैं।'[2]

सरसरी तौर पर अंचल के निरीक्षण-द्वारा आंचलिक उपन्यास नहीं लिखे जा सकते। अंचल के सतही और अल्पकालिक ज्ञान से ज्ञात आंचलिकता के प्रयोग का यह स्तर आंचलिक उपन्यास के लिए चुने गये क्षेत्र की आंचलिकता को कैसे विरूपित करके प्रस्तुत करता है। इसके उदाहरण अनेक आंचलिक उपन्यासों में देखे जा सकते हैं।

रेणु के 'मैला आंचल' की अपूर्व ख्याति और फिर उनकी 'परती-परिकथा' की भी व्यापक चर्चा ने हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में हलचल उत्पन्न की, उससे आंचलिक उपन्यासों की एक बाढ़-सी आ गई। इस प्रवाह में बहुत-कुछ ऐसा भी आना ही था, जो न अनुभव के स्तर पर प्रामाणिक था और न ही संवेदना के धरातल पर गहराई लिये हुए।

जिसमें अंचल के बाहरी यथार्थ से लेकर अन्तरात्मा तक का गहरा चित्रण नहीं हो।

---

1. प्रकाशचन्द्र गुप्त : आज का हिन्दी साहित्य, पृ० 49
2. डॉ० बद्रीप्रसाद : प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास : फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 104

इस प्रकार के उपन्यासों में जीवंतता नहीं होती। अंचल के समग्र जीवन की झलक प्रस्तुत करने के लिए लेखक का उस अंचल का भोक्ता या गहन अध्येता होना आवश्यक है, तभी लेखक अंचल के यथार्थ को अंकित करके आंचलिक कृति में प्राण डाल सकता है। अंचल का भोक्ता और गहन अध्येता होने और आंचलिकता की सतही अनुभूति में अन्तर होता है। भोक्ता अंचल का जितनी गहनता और स्वाभाविकता से चित्रण कर सकता है, यह बात अंचल के अध्येता के चित्रण में नहीं आ सकती। दोनों के आंचलिक चित्रण में अन्तर रहेगा ही।

अंचल से गहराई से लगाव या जुड़ाव की आवश्यकता को डॉ० रामदरश मिश्र भी स्वीकार करते हैं—'उपन्यास के क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासों ने अनुभवहीन सामान्य या विराट के पीछे न दौड़कर अंचल की सीमाओं में आने वाले अंचल-विशेष को उपन्यास का क्षेत्र बनाया। आंचलिक उपन्यासकार जनपद-विशेष के बीच जिया होता है या कम-से-कम समीपी द्रष्टा होता है। वह विश्वास के साथ वहां के पात्रों, वहां की समस्याओं, वहां के सम्बन्धों, वहां के प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के समग्र रूपों, परम्पराओं और प्रगतियों को अंकित करता है। आंचलिक उपन्यास लिखना मानो हृदय में किसी भू-भाग की कसमसाती हुई जीवनानुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है।'[1]

यह कसमसाहट अंचल के प्रति अपारनिष्ठा और गहन अनुभव के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकती। प्रामाणिक आंचलिक उपन्यास में लेखक अपनी कथाभूमि के प्रति कैसी गहरी प्रतिबद्धता अनुभव करता है, इसका उदाहरण इस उद्धरण में देखा जा सकता है—'कथा की सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ साहित्य की दहलीज पर आ खड़ा हुआ हूं, पता नहीं अच्छा किया या बुरा। जो भी हो, अपनी निष्ठा में कमी महसूस नहीं करता।"[2]

आंचलिक उपन्यासकार की प्रमुख शर्त ही यही होती है कि उसके द्वारा किया गया अंचल-विशेष का चित्रण यथार्थता का भी अहसास कराये। आंचलिक उपन्यासों के लिए जिस रागात्मकता, आस्था और आत्मीयता की अपेक्षा होती है, उसके लिए अंचल का गहरा अनुभव होना ही चाहिए। आंचलिक उपन्यासों में अनुभवों का प्रयोग सतही तौर पर नहीं किया जा सकता। लेखक का अंचल की संवेदना, प्रकृति, स्पन्दन, संस्कार और मिट्टी से जुड़ा होना जरूरी है; तभी वह अंचल की छवि को उसकी अच्छाइयों और बुराइयों-समेत सटीक ढंग से व्यक्त कर सकता है।

गोविन्द मिश्र के शब्दों में—'आंचलिक की बात नहीं है, आंचलिक-भर से वह चीज नहीं आती, अपनी जमीन से इतना घुला-मिला हो, सराबोर हो अपनी जमीन से कि उसकी दृष्टि—आंचलिक में तो भाषा सिर्फ आपने ले ली और वहां की खास कहानी ले ली और पेशकर दी, यहां वह खुशबू नहीं दिखाई देगी, वह गन्ध नहीं मिलेगी—उसका व्यक्तित्व पूरा-का-पूरा सराबोर हो उस जमीन में, तो वहां की गन्ध उसकी रचनाओं से

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : 'समसामयिक हिन्दी साहित्य', पृ० 133
2. रेणु : 'मैला आंचल' की भूमिका

आएगी।'[1]

जमीन में सिर्फ सराबोर होना ही जरूरी नहीं। तटस्थ होकर उन अनुभवों को व्यापक सन्दर्भ से जोड़कर अनुभूति में बदलना भी जरूरी होता है। सराबोर तो किसान भी होता है, लेकिन उसे अपने और अपने सन्दर्भ के बीच के सम्बन्ध का अहसास ही नहीं है। इसलिए रचना केवल अनुभव नहीं होती, बल्कि अनुभवों का रचनात्मक संयोजन होती है। यह तो ठीक कि आंचलिक उपन्यासकार को अपने अंचल की विस्तृत तथा गहरी जानकारी होनी चाहिए, परन्तु अंचल-विशेष से सम्बन्धित सीमित अनुभव-सन्दर्भ और दृष्टि होने पर आंचलिक उपन्यास सार्वदेशिक नहीं बन पाएगा।

हिन्दी के अनेक आंचलिक उपन्यासों में अपने अनुभव-सम्प्रेषण को अंचल में सीमाबद्ध कर लेना लेखक के रचना-सामर्थ्य के सीमित होने की ओर संकेत करता है। हिन्दी के अनेक आंचलिक उपन्यासकारों का अनुभव-सन्दर्भ और दृष्टि एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र की भौगोलिकता, प्रकृति, उस क्षेत्र-विशेष के निवासियों के रहन-सहन, संस्कार, समस्याओं, परिस्थितियों, कष्टों, गरीबी और शोषण तक ही सीमित है। कुछेक लेखकों ने इस सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न किया भी है, परन्तु वो भी अपने अनुभव-सन्दर्भों और दृष्टि को आंचलिकता की सीमा से बचाकर मानवीय दृष्टि को अधिक व्यापकता और गहराई से नहीं व्यक्त कर सके। यदि आंचलिक उपन्यासकार अपने आंचलिक अनुभवों-द्वारा अंचल का विकास, उसमें चेतना जागृत करने; शोषण का विरोध करने और नितान्त सामान्य मानव की संवेदना और सुख-दुःख के माध्यम से व्यापक मानवीयता का प्रसार करने की कोशिश करे, तो आंचलिक उपन्यासों में अनुभव के सीमित होने की शिकायत दूर हो सकती है। उसकी इस कोशिश में सफलता-असफलता का सारा दारोमदार लेखक की अपनी रचना-क्षमता पर निर्भर होता है।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' में 'मैं फिर काम शुरू करूंगा। यहीं इसी गांव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आंसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहायेंगे। मैं साधना करूंगा। कम-से-कम एक ही गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाये होठों पर मुस्कराहट लौटा सकूं...।'[2] प्रशांत के माध्यम से यह दृष्टिकोण उपस्थित करने पर भी, रेणु के इस उपन्यास पर आरोप सहज ही लगाया जा सकता है कि यह उपन्यास सार्वदेशिकता के स्तर पर व्यापक नहीं बन पाया; क्योंकि 'रेणु' इस उपन्यास को व्यापक एवं विस्तृत फलक पर चित्रित नहीं कर पाए। लगता है, प्रशांत के जरिये 'कम-से-कम एक ही गांव के कुछ प्राणियों के मुरझाये ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ' तथा भूमिका में 'यह है एक आंचलिक उपन्यास' कथन-द्वारा रेणु ने अपना यह मन्तव्य स्पष्ट किया है कि सिर्फ पूर्णिया जिले के मेरीगंज गांव पर आंचलिक उपन्यास लिखना ही उनका अभीष्ट है। इसलिए 'मैला आंचल' में सार्वदेशिकता का अभाव खटकता है। 'मैला आंचल' अनुभवों के चयन पर आधारित है। मनोहर श्याम

---

1. गोविन्द मिश्र : 'साहित्य का सन्दर्भ', पृ० 19
2. फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल', पृ० 250

जोशी के बपन्यास 'कसप' का शिल्प भी मैला आंचल के उस तकनीकी शिल्प से मिलता है, जिसमें छायाचित्र शैली को अपनाया गया है। यह शैली 'सब-कुछ' को नहीं, 'विशेष कुछ' को दिखाने से सम्बद्ध होती है। इसलिए ये रचनायें अनुभवों के कलात्मक संयोजन पर आधारित हैं।

हर रचनाकार के अपने तरीके या मानसिक प्रक्रिया होती है, अनुभवों से उद्वेलित या विचलित होने की, जो अनुभवों को संयोजित करती है। मसलन नागार्जुन और शैलेश मटियानी का अनुभव एक ही नहीं है और चूंकि ऐसा नहीं है इसलिए रचनायें भिन्न हैं। नागार्जुन के उपन्यासों में अनुभवों का सैद्धान्तीकरण मिलता है। फलतः अनुभवों और सन्दर्भों का संसार बदल जाता है। मटियानी में करुणा की यथार्थपरकता है, जो अनुभवों को चरित्रों और स्थितियों से जोड़ती है। फलतः सन्दर्भ में बदलाव होता है। यथार्थ के दो भिन्न स्वरूप सामने आते हैं। एक में दृष्टि और दूसरे में संवेदना पर जोर देखा जा सकता है। मटियानी के आंचलिक उपन्यासों में राजनैतिक सामाजिक दृष्टि का अभाव है।[1]

नागार्जुन और रेणु, दोनों मानव-नियति को राजनैतिक सन्दर्भ में देखते हैं और उसके बदलाव में इसके योगदान में विश्वास करते हैं, इसलिए राजनैतिक सन्दर्भ आवश्यक होता है, बल्कि वह देखने में भी रहता है। रेणु और नागार्जुन के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोनों उद्धरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

1. 'इसकी एक अन्य विशेषता यह है कि यह सामाजिक चिंतन-धारा से तो जुड़ा ही हुआ है, यह वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं से भी असम्पृक्त नहीं है।··· रेणु की विशेषता यह रही है कि 'मैला आंचल' में उन्होंने सभी राजनीतिक विचारधाराओं का बड़ा संतुलित चित्रण किया है। न किसी को ऊपर उठाने की कोशिश है, न किसी को सायास नीचे गिराने की। वस्तुतः जिस घुटन-भरी जिन्दगी की कशमकश उन्होंने चित्रित की है, उसमें यह राजनीतिक चित्रण इतना घुल-मिल गया है कि वह अलग से देखा ही नहीं जा सकता। रेणु की निर्वैयक्तिकता एवं तटस्थता ने उसे और भी गहरा रंग दिया है। वे कहीं भी मताग्रही नहीं प्रतीत होते। उन्होंने वास्तव में एक व्यापक मानवतावाद की स्थापना करने की चेष्टा की है।'[2]

2. 'उनकी कृतियों में सारे मार्क्सवादी और प्रगतिवादी विचार व्यंजित हुए हैं। प्रगतिशील साहित्य में मार्क्स के सिद्धान्तों की प्रत्यक्ष व्याख्या आवश्यक नहीं होती, बल्कि उनकी समस्त मूलभूत चेतना की व्यंजना ही आवश्यक होती है। नागार्जुन के सभी उपन्यास इसके सच्चे प्रमाण हैं।'[3]

आंचलिक उपन्यास के तत्वों का प्रयोग उपन्यासकार अंचल को उसकी समग्रता

---

1. नागार्जुन का 'बलचनमा' उपन्यास और शैलेश मटियानी का 'एक मूठ सरसों' या 'चिट्ठीरसैन'।
2. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां', पृ० 64
3. डॉ० बद्रीप्रसाद : 'प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास', पृ० 121-122

में उजागर करने के लिए करता है, परन्तु इन तत्वों के चुनाव में उसकी दृष्टि अनुभव-क्षेत्र पर अधिक आश्रित रहती है। उदाहरण के लिए पात्रों के चुनाव के सम्बन्ध में अनुभव की महत्ता को स्वीकार करते हुए प्रमुख आंचलिक उपन्यास 'आधा गांव' के रचयिता राही मासूम रजा के विचार लगभग इस प्रकार हैं—'मैं हवा में पात्र नहीं गढ़ता। मैं कोई जादूगर नहीं हूं। अपने आस-पास के लोगों में से थोड़ा किसी का सोच लिया, किसी से हाव-भाव, किसी की आवाज, किसी की शक्ल। उसके बाद स्वयं को भी उन पात्रों में अवश्य मिलाता हूं।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आंचलिक उपन्यासों के मूल्यांकन को सिर्फ अनुभव-सन्दर्भों की कसौटी पर ही नहीं देखा जा सकता। अनुभवों की यथार्थता अथवा प्रामाणिकता के सवाल को उपन्यासकार की दृष्टि से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण दिया जा सकता है। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' के एक पात्र 'चलित्तर कर्मकार' को वास्तविक जीवन अनुभव-क्षेत्र से चुना है। उपन्यास में वर्णित 'चलित्तर कर्मकार' का वास्तविक नाम 'नक्षत्र मालाकार' है। स्वयं उसी ने 'मैला आंचल' के चलित्तर कर्मकार को पढ़कर स्वीकार किया कि उसके चरित्र को हू-ब-हू वैसा ही उतारा गया है। 'गंगा' में उसने कहा—'रेणुजी जब एक दिन जेल के दफ्तर में ही सन् बयालीस के आन्दोलन का संस्मरण सुना रहे थे, तो उन घटनाओं की बात को रोकते हुए उन्होंने कहा था—'अजीब संयोग की बात। 'मैला-आंचल' के दो-दो पात्र इसी जेल में हैं। एक तो बलित्तर कर्मकार और दूसरा कालीचरन, अभी मैं चलित्तर कर्मकार से मिलवाता हूं!...लो, ये हैं 'मैला आंचल' के चलित्तर कर्मकार!'—जैसा मैंने सुना था, ठीक हूबहू वही व्यक्तित्व मेरे सामने खड़ा था। एक ऐतिहासिक मिलन।—यह भी सही है, मेरे नाम का जो आतंक था, उस जमाने में वैसा ही लिखा है।'[2]

इन उद्धरणों को उद्धृत करने का तात्पर्य सिर्फ यह स्पष्ट करना है कि आंचलिक लेखकों के अनुभवों को आंचलिक उपन्यास-रचना में क्या महत्त्व दिया है; क्योंकि ये अनुभव सन्दर्भों के प्रति दृष्टि का परिचय देते हैं।

आंचलिक उपन्यासों में लेखक की दृष्टि चूंकि अंचल पर केन्द्रित रहती है, इसलिए वह कथा-प्रवाह, कथात्मक, एकसूत्रता चरित्र-चित्रण, यहां तक कि शिल्प को भी परम्परागत उपन्यासों से कम महत्त्व देता है। यदि वह कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण या शिल्प या कथात्मक एकसूत्रता पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेगा, तो अंचल की उपेक्षा हो सकती है। उदाहरण के लिए प्रचुर अनुभव-सम्पदा के होते हुए भी 'आंचलिक उपन्यास' लिखने के आग्रह के कारण रेणु के उपन्यास कथात्मक एकसूत्रता, कथा-प्रवाह, चरित्र-चित्रण तथा शिल्प की दृष्टि से कई आंचलिक उपन्यासों के मुकाबले कमजोर

1. डा० राही मासूम रजा : दूरदर्शन के 'पत्रिका' कार्यक्रम में एक इण्टरव्यू, दिनांक 29 जून, 1990
2. नक्षत्र मालाकार : 'गंगा' में दिया गया एक साक्षात्कार,

अवश्य हैं, मगर अंचल के 'समग्र चित्रण' की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास हैं। 'रेणु का अपने इस क्षेत्र में उत्कृष्ट स्थान है—इसमें सन्देह नहीं। आंचलिक चित्रण की शक्तियों का आभास हमें उनके उपन्यासों में ही सबसे अधिक मिलता है।'[1]

आंचलिक उपन्यासकार समस्त औपन्यासिक तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्व अंचल की भाषा या बोली को देता है, क्योंकि आंचलिक उपन्यासकार की अपनी दृष्टि विशेष और आंचलिक अनुभवों को सम्प्रेषित करने के लिए सबसे अधिक भाषा और शिल्प से ही कार्य साधना होता है और यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि सामान्य पाठक भी, जो उस अंचल की बोली से अनभिज्ञ हैं, विशिष्ट आंचलिक कृति का रसास्वादन कर सकें। रचनात्मक भाषा की अनुभव-सम्प्रेषण या दृष्टि की अभिव्यक्ति करने में बड़ी अहम् भूमिका होती है। अनुभव-सम्प्रेषण और दृष्टि-निरूपण में भाषिक-संरचना का स्तर लेखक की सृजनात्मक क्षमता के पहचान की कसौटी होता है।

डा० सत्यप्रकाश मिश्र इस सम्बन्ध में कहते हैं—'जिसे अनुभूति की प्रामाणि-कहा जाता है, उसका सम्बन्ध भी भाषा के रचनात्मक प्रयोग द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि प्रस्तुत यथार्थ लोगों को ऐसा लगे कि यह इसी जगत् का है, परन्तु यह ऐसा भी है, या यही मैं भी सोचता था, या अच्छा यह इस प्रकार है। इसका मूल यह है। भाषा की योजना रचनात्मकता पर सम्भव है और यह रचनात्मकता रचनाकार की अनुभवसम्पन्नता और जीवनदृष्टि पर निर्भर करती है। अनुभव की गहराई और व्यापकता भाषा की रचनात्मकता का हेतु है. इसीलिए भाषा के माध्यम से ही रचनाकार की शक्ति और सीमा तथा रचना की सर्जनात्मकता का मूल्यांकन उत्तम रूप में सम्भव है। भाषा के द्वारा ही अनुभव को समझा जा सकता है।"[2]

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों की दृष्टि ग्रामीण अंचल, नगरीय अंचल, पर्वतीय अचल, नदी अथवा समुद्रतटीय अंचल, जाति, जनजाति से लेकर विशिष्ट मुहल्ले के अनुभवों तक को समेटती चली गई है।

आंचलिक उपन्यास में क्षेत्र कोई भी लिया जाय निजी विशिष्टता का होना बहुत जरूरी है। इस विशिष्टता के निर्वाह के लिए अनुभव का विशिष्ट होना अनिवार्य है। हर लेखक का अनुभव और दृष्टि दूसरे लेखक से अलग होती है और सम्प्रेषण का ढंग भी भिन्न-भिन्न होता है। निजी अनुभव और दृष्टि के बिना उपन्यास लिखा ही नहीं जा सकता। प्रेमचन्द के अनुसार—'उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ़ विश्वास न हो।'[3]

यह बात हिन्दी के प्रमुख आंचलिक उपन्यासकारों के अध्ययन के द्वारा भी स्पष्ट की जा सकती है। रेणु और नागार्जुन, दोनों ही आंचलिक उपन्यासकार हैं। दोनों ही अपने-अपने उपन्यासों में वर्णित आंचलिक विशिष्टताओं के साथ-साथ मार्क्सवादी दृष्टि-

---

1. डा० महेन्द्र चतुर्वेदी, 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृ० 213
2. डा० सत्यप्रकाश मिश्र, 'यह पथबन्धु था : एक अध्ययन', पृ० 89-90
3. 'प्रेमचन्द, कुछ विचार', पृ० 92

कोण भी स्थापित करते हैं, या कोई लेखक आंचलिक भाषा के द्वारा उपन्यास को विशिष्ट बनाता है।

अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद' के विषय में नगीना जैन का कथन है—'इस उपन्यास में जो प्रवृत्ति सबसे अधिक आंचलिकता का भ्रम पैदा करती है, वह है, उनकी भाषा। भाषा और पात्र दोनों के अनुरूप अत्यन्त स्वाभाविक और स्थानीय बोली तथा लहजे का पुट लिये है।'[1]

आंचलिक उपन्यास के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण के बावजूद शर्त यही होगी कि अंचल की समग्रता में अभिव्यक्ति हो। अतः अनुभव रचनाकार के भले ही किसी विशिष्ट अंचल से सम्बद्ध हों, परन्तु वह अपनी दृष्टि को सीमित न कर, व्यापक बनाये, तो सामग्री के स्तर पर आंचलिकता के बावजूद दृष्टि के स्तर पर आंचलिकना का अतिक्रमण कर वह निस्सन्देह एक श्रेष्ठ, सार्वभौमिक रचनात्मक कृति दे सकता है, क्योंकि तब रचना-विधान के स्तर पर का आंचलिक वैशिष्ट्य कृति में अनुभव-सन्दर्भों को सीमित नहीं करेगा।

(ख) रेणु और उनके पश्चात् आंचलिकता के प्रयोग

आंचलिकता ही वह प्रवृत्ति या तत्त्व है, जिससे आंचलिक उपन्यास का सृजन सम्भव होता है। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता को पहली बार 'स्थानीय चित्रण' के स्तर से ऊपर लाकर सम्पूर्ण रचना-विधान में प्रमुखता या समग्र रूप में प्रधानता दी गई।

आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का प्रयोग वैशिष्ट्यपूर्ण तथा प्रधानता से होने के कारण ही वह सामान्य उपन्यासों, जिनमें आंचलिकता का सीमित प्रयोग हुआ है, से भिन्न स्वरूप का निर्माण करता है। आंचलिकता एक विशिष्ट प्रवृत्ति है, जो अंचल-विशेष के लोकतत्त्वों, अन्धविश्वास, प्रकृति-चित्रण, रहन-सहन एवं निजी मान्यताओं के चित्रण में वस्तु, पात्र, भाषा, शिल्प के माध्यम से देखी जा सकती है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में कहा गया है—'आंचलिकता की सिद्धि के लिए स्थानीय दृश्यों प्रकृति, जलवायु, त्यौहार, लोकगीत, बातचीत का विशिष्ट ढंग, मुहावरे, लोकोक्तियां, भाषा व उच्चारण की विकृतियां, लोगों की स्वभावगत व व्यवहारगत विशेषताएं, उन का अपना रोमांस, नैतिक मान्यताओं आदि का समावेश बड़ी सतर्कता और सावधानी से किया जाना अपेक्षित है।'[1]

डॉ० नगीना जैन ने अपनी शोध-पुस्तक के प्रारम्भ में ही आंचलिकता पर चर्चा करते हुए कहा है—'यह स्पष्ट है कि आंचलिकता अपने आप में एक विधा है।'[2] लेकिन

---

1. डा० नगीना जैन, 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास', पृ० 185
2. हिन्दी साहित्य कोश'—भाग-1 (पारिभाषिक शब्दावली) सम्पादक : वीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी व रघुवंश : पृ० 95
3. डा० नगीना जैन, 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास', पृ० 15

वस्तुतः आंचलिकता एक प्रवृत्ति है। अपने-आपमें न तो आंचलिकता कोई विधा है और न किसी विधा का कारण ही। आंचलिकता ही क्यों, 'आंचलिक उपन्यास' भी कोई विधा नहीं, बल्कि उपन्यास-विधा का एक प्रकार है। विशिष्ट अंचल की समग्रता में अभिव्यक्ति के उद्देश्य से लेकर के आंचलिकता के विशुद्ध एवं प्रचुर मात्रा में प्रयोग का ढंग आंचलिक उपन्यास का कारण बनता है। 'आंचलिक उपन्यास' है तो उपन्यास ही, परन्तु परम्परागत उपन्यासों से मूल उद्देश्य में भिन्न होने से उसका स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है और वह मूल उद्देश्य है—विशिष्ट अंचल या अंचल-विशेष के जीवन की उसकी चरित्रगत बनावट ही नहीं, बल्कि वातावरणगत समग्रता में अभिव्यक्ति।

विशिष्ट आंचलिक उपन्यास और इसके पूर्व के परम्परागत उपन्यासों में आंचलिकता के प्रयोग की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए डॉ० सत्यपाल चुघ कहते हैं—'कुछ लोकतत्त्वयुक्त पूर्ववर्ती उपन्यासों तथा इन आंचलिक उपन्यासों में जो अन्तर परिलक्षित होता है, वह दृष्टिकेन्द्र या उजागरीय केन्द्र के परिवर्तन का प्रतिफल है—वहां जो वातावरण पृष्ठभूमि में है, वही यहां पुरोभूमि बन गया है। वहां अंचल मानो वर्गगत पात्र है—अनेक अंचलों का प्रतीक, यहां मानो वह व्यक्ति-पात्र है—स्वयं में पूर्ण इकाई, किन्तु अवश्य ही कुछ वर्गगत विशेषताओं के साथ। वहां बूंद सागर में खोई हुई है, यहां बूंद सागर की विशेषताएं लिए हुए भी अपने पार्थक्य की पहचान कराती है। वहां वातावरण सम्पूर्ण (भारतीय) ही है, यहां स्थानिकता के आकर्षण को स्थिर रखते हुए उसी से सम्पूर्णता की व्यंजना की जाती है। इस दृष्टि-केन्द्र के परिवर्तन या नूतन होते जाने के कारण ही आंचलिक उपन्यास के शिल्प में परिवर्तन आ गये हैं—आंचलिक उपन्यासों की प्रायोगिक नव्यता का रहस्य इसी में है।'[1]

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की यही धारणा है कि हिन्दी के उपन्यासों में पहली बार आंचलिकता का प्रयोग 'रेणु' के 'मैला आंचल' में हुआ है। उनके अनुसार—'हिन्दी के उपन्यासों में आंचलिकता का प्रारम्भ फणीश्वरनाथ 'रेणु' (1921) के 'मैला आंचल' से होता है, जो अपने-आप में एक प्रयोग होने के साथ-साथ इस युग की सफलतम कृतियों में से है।'[2]

वास्तव में आंचलिकता का प्रयोग रेणु से बहुत पहले शिवपूजन सहाय 'देहाती दुनिया' में कर चुके थे। आंचलिकता का प्रयोग ही क्यों, कई आंचलिक उपन्यास (रतिनाथ की चाची, बलचनमा, कब तक पुकारूं) भी रेणु से पहले लिखे जा चुके थे। हालांकि इन उपन्यासों में 'मैला आंचल' के समान आंचलिकता का गहरा एवं समग्र प्रभाव नहीं है, परन्तु यह कहना कि 'मैला आंचल' से आंचलिकता का प्रारम्भ हुआ, सही नहीं है। लेकिन इतना निश्चित है कि आंचलिकता की अवधारणा, स्थापना और चर्चा को 'मैला आंचल' से पूर्व वैसी बाढ़ के रूप में नहीं देखा गया, जिसने परवर्ती आंचलिक उपन्यासकारों को इतना प्रभावित किया हो। इस सन्दर्भ में डॉ० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय का

---

1. डा० सत्यपाल चुघ, 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि', पृ० 557
2. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'हिन्दी नवलेखन', पृ० 114-115

यह कथन ज्यादा उपयुक्त कहा जा सकता है—

'हिन्दी में ऐसे आंचलिक उपन्यास पांचवें और छठे दशकों से पूर्व नहीं लिखे गये और न कोई उनका निश्चित रूप प्रकट हुआ। अस्तु 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' से यह आंचलिकता की प्रवृत्ति विशिष्टीकरण और स्थानीकरण के गुणों से संश्लिष्ट होकर उपन्यास-क्षेत्र में नवीन तीव्रता के साथ आई।'[1]

वस्तुत: आंचलिकता के फोटोग्रैफिक ढंग के निरूपण में नूतन शिल्प और नायक-विहीन कथानक के सुनियोजित प्रयोग की दृष्टि से 'मैला आंचल' को प्रथम प्रयास अवश्य कहा जा सकता है। साथ ही आंचलिक उपन्यासों के लिए 'आंचलिक संज्ञा' के प्रथम प्रयोग का श्रेय भी इसे दिया जा सकता है।

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त की मान्यता है कि आंचलिक संज्ञा का आविष्कार फणीश्वरनाथ 'रेणु'-द्वारा उनके 'मैला आंचल' (1954) की भूमिका में हुआ, किन्तु इस परम्परा का सूत्रपात इससे पूर्व ही नागार्जुन के उपन्यासों द्वारा हो चुका है। प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गोदान' आदि तथा वृन्दावनलाल वर्मा के अनेक उपन्यासों को भी इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है--किन्तु उनमें आंचलिकता को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया गया, जो कि परवर्ती आंचलिक उपन्यासों की विशिष्टता का द्योतक है। इसीलिए विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों की परम्परा नागार्जुन से शुरू होती है।[2]

अब तक लिखे गए लगभग सभी आंचलिक उपन्यास किसी-न-किसी दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों पर लिखे गए हैं। उदाहरण के लिए 'जंगल के फूल' को ही लें, जिसमें 'सघन बनों, घाटियों और नदी-नालों से भरी धरती के 75 प्रतिशत से अधिक निवासी आदि-वासी हैं और आज भी अपनी आदिम सभ्यता में हैं।'[3] चाहे वह क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो, चाहे सामाजिक दृष्टि से अथवा राजनैतिक दृष्टि से पिछड़ा हो या नैतिक दृष्टि से—'किसी भी आंचलिक उपन्यास में किसी भी ऐसे ग्रामीण अथवा जनजाति का चित्रण नहीं हुआ, जिसे शक्तिशाली कहा जा सकता हो। लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों से यही प्रकट होता है कि ग्रामीण समाज बुरी तरह से दरिद्रता, अज्ञान और अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ है, जिसे कुछ चतुर व्यक्ति बुरी तरह से चूस रहे हैं।'[4]

आंचलिक उपन्यास के लिए यदि लेखक ने शहरी क्षेत्र भी चुना है, तो वह क्षेत्र भी शहर के प्रभावों से लगभग कटा है और उसका अपना एक अलग वैशिष्ट्य है। पिछड़ापन ही आंचलिक उपन्यासों में निजी विशिष्टता का प्रमुख कारण बनता है।

आधुनिक जीवन में शहरों के विकास की तीव्रगति का गांवों पर भी पर्याप्त असर पड़ रहा है, जिससे गांवों का पिछड़ापन दूर हो रहा है और शहर तथा गांव का अन्तर भी कम होता जा रहा है। जो कि गांवों की निजी विशिष्टता के लिए खतरा बनती जा

---

1. डॉ० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य', पृ० 13
2. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'हिन्दी का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० 935
3. राजेन्द्र अवस्थी : तृषित, 'ज़ंगल के फूल', पृ० 105
4. डॉ० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य', पृ० 16

रही है। लोकऋण में श्री महेन्द्र चतुर्वेदी भी भविष्य में आंचलिकता के प्रयोग के प्रति संभावित खतरे से आशंकित होकर कहते हैं—'यह मानसिक बिलगाव आर्थिक प्रगति के साथ-साथ दूर हो जायेगा, ऐक्य की भावना की प्रतिष्ठा होगी और तब स्पष्ट ही आंचलिक उपन्यास का आधार भी लुप्त हो जायेगा।'[1]

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आंचलिकता का प्रयोग व स्तर सभी उपन्यासों में समान नहीं है। उदाहरणस्वरूप आंचलिकता के प्रयोग व स्तर की दृष्टि से फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास नागार्जुन के उपन्यासों की अपेक्षा अधिक तथा स्तरीय तथा उत्कृष्ट है। आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिकता के विशिष्ट प्रयोग हेतु रूप, कथावस्तु, भाषा, शिल्प, उद्देश्य के क्षेत्र में कई अभिनव प्रयोग किए हैं। वस्तु, शिल्प, भाषा व उद्देश्य के निरूपण से ही आंचलिक उपन्यास का रूपाकार निश्चित होता है। आंचलिकता के निरूपण में इन औपन्यासिक तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सब अपने-अपने सहयोग से विशिष्ट आंचलिकता को उद्घाटित करते हैं।

आंचलिकता को समग्रता में चित्रित करने की प्रक्रिया में उपन्यासकार कथा या पात्रों को ही प्रमुखता नहीं प्रदान करता, बल्कि 'आंचलिकता के समग्र रूपांकन' को दृष्टि में रखते हुए, कई बार, आंचलिकता को कथा और पात्रों से ज्यादा प्रमुखता देते भी देखा जा सकता है। कथा और पात्रों को कभी प्रमुखता दी भी जाती है; तो वह भी इसीलिए कि आंचलिकता की सघन अभिव्यक्ति में सहायता ली जा सके। इस प्रकार आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान में आंचलिकता तात्त्विक तौर पर विशेष भूमिका रखती है।

अनेकानेक कथाओं को प्रासंगिक तौर पर कथा की मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयास भी कम हुआ है। एक उपन्यास में अनेकानेक कथाओं का प्रयोग प्रेमचन्द-युग में भी काफी हुआ है, परन्तु उनमें एकसूत्रता मिलती है; जबकि ठेठ आंचलिक उपन्यासों में वैसी कथात्मक एकसूत्रता नहीं मिलती। इस बिखराव में कभी-कभी रोचकता और कथाप्रवाह में बाधा पहुंचती है। इसका कारण बताते हुए, डॉ० नगीना जैन कहती हैं—'आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु में घटना-सूत्र उलझा हुआ होता है और कथात्मक एकसूत्रता सुरक्षित नहीं रह पाती; क्योंकि उसके कथानक में खण्डात्मकता अधिक है। अंचल के जीवन की समग्रता को उपन्यासकार अनेकानेक खण्ड चित्रों द्वारा अभिव्यक्ति देता है, इसलिए बिखराव प्रमुख हो जाता है।'[2]

आंचलिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर ही विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। आंचलिक उपन्यास के मानव-पात्रों को परम्परागत उपन्यासों में वर्णित मानव-पात्रों की तरह सम्पूर्ण महत्त्व नहीं दिया जाता। कई बार मानव-पात्र को नायक की भूमिका देकर मानव-समूह को आंचलिक उपन्यासों में लाया गया है। इसमें व्यक्ति-विशेष को महत्त्व नहीं दिया जाता। इस दृष्टि से देखें, तो डॉ० जैन के इस निष्कर्ष में काफी सार दिखाई

1. महेन्द्र चतुर्वेदी : 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण', पृ० 192
2. डॉ० नगीना जैन : 'आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास', पृ० 77

देता है कि, 'आंचलिक उपन्यास के पात्र के चित्रण की प्रणाली व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक या जातिपरक होती है। पात्र अपना प्रतिनिधि नहीं होता, वह वर्ग या जाति के संस्कारों का प्रतिनिधित्व करता है।'[1]

कुछ आंचलिक उपन्यासों में प्रमुख लगने वाले पात्रों से लेकर मामूली-से-मामूली पात्र भी अंचल को उजागर करने में ही अपना सहयोग देते दिखाई पड़ते हैं, परन्तु फिर भी कुछ उल्लेखनीय पात्र मिल जाते हैं। जैसे नागार्जुन के 'बलचनमा' में 'बलचनमा; रेणु के 'परती-परिकथा' में जितेन्द्र तथा 'मैला आंचल' में प्रशान्त और उदयशंर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' में रत्ना इत्यादि।

किसी विशिष्ट अंचल की आंचलिकता के स्पष्ट रूपांकन के लिए जरूरी है कि उस अंचल की भाषा या बोली का पुट उसमें डाला जाय। और यह आवश्यक भी है, क्योंकि —'अंचलीय भाषा भाषा ही नहीं होती, वातावरण होती है, और जिस उपन्यास में वातावरणप्रधान हो, वहां इसका प्रयोग स्वाभाविक-सकारण है, आकस्मिक-अकारण नहीं। इसके अतिरिक्त यह भाषा लेखक के अंचलीय जन-जीवन से घानिष्ट्य का सहज ही विश्वास उत्पन्न करती है।'[2]

इस दृष्टि से 'हौलदार' में आंचलिक भाषा का यह नमूना द्रष्टव्य है—'दुत, चंठ। खार खा गई हो? अरे गोपी, ऐसी ही समझती, तो अब तक चली न जाती, रे! पिछले बरस भिटौली देने आये थे, मेरे ठुलदाज्यू, तो तुम्हारे सामने ही कितनी जिद्द कर रहे थे, कि 'चल बैणा!'—मगर, मैं नहीं गई।'[3]

कभी-कभी आंचलिक भाषा व बोली के प्रयोग की प्रधानता से ही कुछ उपन्यास आंचलिक उपन्यास होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं—'कई उपन्यासकार तो भाषा के आंचलिक तत्त्व के प्रयोग के कारण ही आंचलिक उपन्यासकारों की श्रेणी में जा बैठे हैं। 'नदी फिर बह चली', 'लोकलाज खोई', 'पानी के प्राचीर', 'आदित्यनाथ', 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन' में तो भाषा-तत्त्व की प्रमुखता के साथ ही दो-एक आंचलिक तत्त्व और भी हैं, किन्तु 'लोहे के पंख', 'गंगा मैया', 'मुक्तावली' आदि में केवल भाषा-तत्त्व ही आंचलिक हैं। आंचलिक उपन्यास के क्षेत्रीय वैशिष्ट्यप्रधान बनने में सबसे अधिक सहायक, लेकिन सार्वदेशिक बनने में सर्वाधिक बाधक उद्देश्य का अंचल के प्रति विशेष आग्रह तथा भाषा ही होती है। इसीलिए श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार आंचलिक शब्दों व बोली के यथावत अन्ध प्रयोग से बचने के लिए, इनका परिष्कार कर, भाषा के परिमार्जित साहित्यिक स्वरूप के साथ उनका सामंजस्य बिठाता और कोशिश करता है कि आवश्यकतानुसार ही इनका प्रयोग किया जाय। हिन्दी के अनेक आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता का निर्वाह आंचलिक बोली और खड़ी बोली में सामंजस्य उत्पन्न कर, संरचनात्मक भाषा-द्वारा किया गया है। इस प्रक्रिया में संतुलन और सुबोधता का ध्यान

---

1. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० 41
2. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 557
3. शैलेश मटियानी : 'हौलदार', पृ० 146

बराबर रखा जाना जरूरी है; क्योंकि आंचलिक भाषा व बोली के संतुलित प्रयोग से जहां सजीवता एवं स्वाभाविकता उत्पन्न होती है, वहीं इसके यथावत्, अनगढ़ अधिकाधिक प्रयोग से, चाहे वह आंचलिक भाषा व बोली का परिष्कृत रूप ही क्यों न हो, सुबोधता और रचनात्मकता को क्षति पहुंचती है। हालांकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य उपन्यासों के रचना-विधान में जहां कथा और परिवेश ही मुख्य अंग होते हैं, वहीं आंचलिक उपन्यासों में 'आंचलिकता' भी अपने-आपमें एक प्रमुख अंग की हैसियत रखती है, लेकिन आंचलिकता को उपन्यास की मूल शर्तों के अतिक्रमण की छूट नहीं हो सकती; क्योंकि आंचलिकता का अन्ततः एक 'औपन्यासिक उपादान'-मात्र ही हो सकती है, उपन्यास के सारतत्त्वों का स्थानापन्न नहीं। आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान में भाषा की भूमिका की दृष्टि से यह दृष्टांत प्रासंगिक होगा—'आंचलिक परिवेश को मूर्त करने के लिए अंचल विशेष की बोली के शब्दों, मुहावरों और ध्वनियों को व्यक्त करने वाले लटकों के माध्यम के रूप में प्रयोग करने में भाषा-संरचना के प्रति लेखक को विशेष रूप से सतर्क रहना पड़ता है। यह सावधानी न रहने पर इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से गुणात्मक विशेषता के स्थान पर आंचलिकता फूहड़ दोष के रूप में उभरकर उपन्यास को नष्ट कर देती है।'[1] हिन्दी के अधिकांश आंचलिक उपन्यासकारों ने अंचल की बोली व भाषा का संरचनात्मक स्तर पर परिष्कार कर हिन्दी शब्द-भण्डार को समृद्ध ही किया है।

आंचलिक उपन्यासों में भाषा-प्रयोग के पश्चात्, यदि शिल्प-प्रयोग को देखें, तो उसमें भी सुसंगठन के स्थान पर बिखराव दिखाई देता है, हालांकि इस प्रकार के मत भी व्यक्त किये गये हैं कि—'ये वास्तव में आपस में बिखरे नहीं होते, इनमें एक अन्तःसूत्रता होती है। ये अपना अलग-अलग पूरा अस्तित्व रखते हुए भी अंचल जीवन के उस पक्ष के चितेरे होते हैं, जो अन्य से छूट गया होता है। ये उन अन्यों में जुड़कर व्यापक जीवन की एक कड़ी बन जाते हैं। बिखराव नजर आता है इसलिए कि हमारी निगाहें इस प्रकार के शिल्प की अभ्यासी नहीं हैं।'[2] पर यदि आंचलिक उपन्यास के शिल्प को इस ढंग से देखें कि उद्देश्य, वस्तु, शैली, भाषा, पात्र, संवाद और शिल्प भी मिलकर, कथात्मक एकसूत्रता के बजाय, अंचल को समग्रता में व्यक्त करने में अपनी संगठन शक्ति का प्रयोग करते हैं, तो आंचलिक उपन्यास में शिल्पगत बिखराव ही नहीं, कथानक और चरित्र-चित्रण सम्बन्धी त्रुटियां भी उतना खलेंगी नहीं। वस्तुतः 'इन कृतियों में शिल्प का प्राचीन, अनगढ़, परम्परित और जो स्थूल रूप दिखाई देता है, उसे तराश कर चुस्त-चुटीला और आधुनिक सूक्ष्म शिल्प-भंगिमाओं से जोड़कर, स्वातंत्र्योत्तर कालावधि में रेणु ने उसे

---

1. डॉ० रामदेव शुक्ल : आंचलिक उपन्यास में परिवेश की अवधारणा, हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, सं०—डॉ० रामदरश मिश्र व डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृ० 95
2. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 227

स्वतंत्र प्रासंगिक और प्रभावशाली उपन्यास-शिल्प के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।'[1]

आंचलिक उपन्यास में वस्तु, शिल्प, उद्देश्य, भाषा, शैली, संवाद, देशकाल ही नहीं, आंचलिकता की तात्विक अवधारणा तक का प्रयोग अंचल को समग्रता में चित्रित करने के माध्यम के रूप में होता है। आंचलिकता को समग्रता में चित्रित करने के प्रबल मोह से ही कथा-चरित्र-चित्रण तथा शिल्प-सम्बन्धी दोष उत्पन्न होते हैं; परन्तु वे त्रुटियां उतनी बड़ी नहीं कही जा सकती हैं, जितना कि देशकाल में सिमटे होने से सार्वदेशिकता का अभाव। 'मैला आंचल' भी इन तमाम दोषों से मुक्त नहीं हो सका। डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के मत में—'आंचलिकता 'मैला आंचल' में बाधा बनती है, प्रतीक नहीं। उपन्यास अपनी सारी सामर्थ्य और शक्ति के बावजूद देश और काल की सीमा से बंध जाता है। परिणामतः अनुभव की पूर्णता का बोध नहीं करा पाता।'[2]

यों आंचलिकता की सार्वदेशिकता के स्तर पर अभिव्यक्ति कार्य मुश्किल जरूर है, पर असम्भव नहीं। विशिष्ट बोली या भाषा, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक मान्यताएं, लोकतत्व किसी अंचल के नितान्त अपने हो सकते हैं, परन्तु संवेदना, दुःख-सुख तो किसी विशेष अंचल की निजी सम्पत्ति नहीं। आंचलिक उपन्यास में प्रमुखता भले ही अंचल को दी जाए, परन्तु मनुष्य को उपन्यास से अलग करना रेत का महल खड़ा करना है। मनुष्य है, तो संवेदना, चाहे सामान्य अंचल हो या विशिष्ट, निहित होगी ही। व्यापक संवेदना के जरिये अचल-विशेष के निजीपन के सीमित दायरे से मुक्त करके भी उपन्यास को आंचलिक बनाया जा सकता है; क्योंकि मानव अपने भीतरी रूप में—अपनी संवेदनाओं और तड़प के रूप में सर्वत्र समान है। अतः किसी भी देश या काल के मानव-जीवन के आंतरिक यथार्थ का चित्र खींचने वाला उपन्यास सबके रस का विषय हो सकता है। उसमें स्पन्दित संवेदना समस्त अंचलों से उसे जोड़ती है।'[3]

आरम्भ में कुछ आलोचकों ने केवल उन्हीं उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास माना, जिनमें ग्रामांचलिकता का प्रयोग हुआ था, परन्तु अब यह मंतव्य स्थापित हो चुका है कि आंचलिक उपन्यासों के सन्दर्भ में आंचलिकता के प्रयोग की सीमा ग्रामांचलों से प्रारम्भ होकर नगर, उपनगर, कॉलोनी, मुहल्ला, सम्प्रदाय, मठ की विशेषताओं, पेशेवर जाति, जनजाति, पर्वतीय अंचल और नदी या समुद्रतटीय अंचल तक विस्तृत होती चली गई है।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आंचलिकता के प्रयोग का आरम्भ ग्रामांचलों के चित्रण से हुआ है तथा हिन्दी के अधिकांश आंचलिक उपन्यास भी ग्रामीण पृष्ठभूमि पर ही लिखे गए हैं। ग्रामांचल में नगरांचल की अपेक्षा विशिष्ट आंचलिकता का अधिक अवसर रहता है। शहरी प्रभाव से कटे होने से ग्रामांचलों का निजीपन सुरक्षित रहता

---

1. डॉ० विवेकी राय : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, सम्पा०—डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त, पृ० 17
2. डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र : यह पथबन्धु था : एक अध्ययन, पृ० 19
3. डॉ० रामदरश मिश्र ; हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा, पृ० 229

है। नगरीय अंचलों में विशिष्टता या निजीपन की सम्भावना ग्रामांचलों की तुलना में बहुत कम रहती है। नगरांचलों पर बाहरी प्रभाव भी ग्रामांचलों की अपेक्षा अधिक तेजी से पड़ता है। आंचलिकता के प्रयोग के लिए अब तक विकसित तमाम क्षेत्रों के बावजूद, अधिकतर उपन्यास ग्रामांचलों पर लिखे गए हैं और आज भी ग्रामांचलों पर ही आंचलिक उपन्यास लिखे जाने की सम्भावना सबसे अधिक है; क्योंकि लोकतत्वों की प्राप्ति ग्रामांचलों में ही अधिक हो सकती है। ग्रामीण अंचल पर आधारित आंचलिकता के प्रयोग की आवश्यकता का कारण बताते हुए डॉ० विमलशंकर नागर कहते हैं—'स्वातन्त्र्योत्तर काल में ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के ही पुनर्निर्माण के सर्वाधिक नियोजित प्रयास किए गए हैं और सम्भवत: इसीलिए हिन्दी के आंचलिक औपन्यासिक जगत् में ग्रामीण समाज की पृष्ठभूमि पर आंचलिक उपन्यास-साहित्य का अपेक्षाकृत अधिक निर्माण हुआ है।'

ग्रामीण अंचल पर आधारित आंचलिक उपन्यासकारों में नागार्जुन सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने 'रतिनाथ की चाची', 'दुखमोचन', 'बलचनमा,' 'बाबा बटेसरनाथ', 'नई पौध,' आदि उपन्यासों में मिथिला के ग्रामांचल को ही अपना उपन्यास-क्षेत्र चुना है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने बिहार के मेरीगंज और परानपुर गांवों पर आधारित हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' में अत्यन्त आत्मीयता और आग्रहपूर्वक आंचलिकता का विशुद्ध एवं समग्र प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के तीर्थग्राम पदमपुरी का चित्रण 'लोक-परलोक' में, भैरव प्रसाद गुप्त के 'सत्ती मैया का चोरा' में पियरे गांव, देवेन्द्र सत्यार्थी ने दिसाङ् मुख गांव का 'ब्रह्मपुत्र,' शैलेश मटियानी ने चिट्ठीरसैन में उडलगों का, डॉ० रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' में तिवारीपुर, 'पानी के प्राचीर' में गोरखपुर के पांडेपुररवा गांव, शिव प्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में करैता गांव का वर्णन किया है।

नागर आंचलिकता पर आधारित अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' में लखनऊ नगर के चौक मुहल्ले का, शैलेश मटियानी के 'बोरीबली से बोरीबन्दर तक' में बम्बई नगर और शिवप्रसाद मिश्र-द्वारा लिखित 'बहती गंगा' में विशिष्ट बनारसी जीवन-शैली चित्रित है।

पेशेवर जातियों का चित्रण करने वाले उपन्यासों में उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' और नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' हैं, जिनमें मछुआरों की जीवन-शैली चित्रित है। योगेन्द्रनाथ सिन्हा के 'वन के मन में' 'हो' जाति का जीवन-शैली, उदयशंकर भट्ट के 'शेष-अशेष' में साधुओं के जीवन पर, देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'रथ के पहिए' और राजेन्द्र अवस्थी ने 'जंगल के फूल' में गोंड जाति की जीवन-शैली पर प्रकाश डाला है। रांगेया राघव के 'कब तक पुकारूं' में ब्रज के सीमांत पर बसे खानाबदोश जरायमपेशा करनट जाति का वर्णन है। आंचलिकता के प्रयोग के लिए रेणु ने गोडियार गांव की नवीन नगर कालोनी को जुलूस उपन्यास के लिए चुना है। पर्वतीय अंचल पर आधारित उपन्यासों में शैलेश मटियानी के 'हौलदार,' 'चिट्ठीरसैन', 'चौथी मुट्ठी,' 'मुख सरोवर के हंस', और हिमांशु जोशी का 'कगार की आग,' जगदीशचन्द्र पांडे का 'गगास के तट

पर' तथा गोपाल उपाध्याय का 'एक टुकड़ा इतिहास', इत्यादि उपन्यास कुमायूं के पर्वतीय अंचल पर आधारित हैं। राजेन्द्र अवस्थी का बस्तर की आदिवासी जातियों पर आधारित 'जंगल के फूल' मध्यप्रदेश के आदिवासी अंचल तथा राही मासूम रजा का 'आधा गांव' उत्तर प्रदेश के गाजीपुर अंचल के मुस्लिम सम्प्रदाय की विशिष्टताओं को उजागर करता है।

प्रयोग का सम्बन्ध रचनात्मक दृष्टि से होता है। रचनाकार परिदृश्य को किस रूप में देखता है और कैसे देखना चाहता है। आंचलिकता के सम्बन्ध में एक छविमयता की आवश्यकता होती है। इसलिए आंचलिकता यथार्थ के प्रस्तुतीकरण और वास्तविकता के उद्घाटन के लिए स्वयं एक प्रयोग होती है। इस प्रकार के प्रयोग विविध शिल्पीय प्रयोगों से सम्बद्ध होते हैं। अंचल विशेष को अग्रगामिता प्रदान करने के अतिरिक्त यथार्थवादी दृष्टि राजनैतिक चेतना के सन्दर्भ में भी पिछड़ेपन और अभाव की दृष्टि से जो आंचलिक उपन्यास लिखे जाते हैं, वे यथार्थ के एक हिस्से को काटकर उद्घाटित करते हैं (जैसे 'बलचनमा,' 'बाबा बटेसरनाथ' या 'आधा गांव') और दूसरा हिस्सा पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं।

उदाहरण के लिए, नागार्जुन की यह दृष्टि की समाजवादी यथार्थवाद के जरिये ही कृषकों को अपनी दयनीय स्थिति से छुटकारा मिल सकता है—इससे अंचल के यथार्थ चित्रण में बाधा पड़ती है 'बाबा बटेसरनाथ' में समाजवादी यथार्थवाद का प्रभाव निम्न उद्धरण में देखा जा सकता है—'बीते युगों की सड़ांध का समर्थन किसी भी कीमत पर नहीं कर सकूंगा। भविष्य तेरे जैसे तरुणों के हाथों में है···आज के यह राजा बहादुर; सार्वजनिक उपयोग की भूमि, पोखर, चरागाह, श्मशान वगैरह चोरों की तरह चुपके-चुपके बेच रहे हैं। इतना बड़ा अन्याय अब दुनिया यों ही बर्दाश्त कर लेगी ? नहीं रे, हरगिज नहीं।'[1]

स्पष्ट है कि यह दृष्टि उपयोगितावादी दृष्टि है, जो यथार्थ या अंचल के उपन्यास में विचारधारात्मक आग्रहों के दायरों में इस्तेमाल के दृष्टिकोण पर आधारित है। स्मृति-प्रवाह को भी प्रायोगिक स्तर पर किसी स्थल या जाति-विशेष की जिन्दगी की जीवन्त अभिव्यक्ति को उभारने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जैसे 'जिन्दगीनामा' में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आंचलिकता के प्रयोगों की दृष्टि से हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान में पर्याप्त विविधता मौजूद है।

---

1. नागार्जुन : 'बाबा बटेसरनाथ', पृ० 40

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का रचना-विधान

बलचनमा

'बलचनमा' सन् 1952 में प्रकाशित नागार्जुन का दूसरा उपन्यास है। उपन्यास-क्षेत्र में 'बलचनमा' से ही नागार्जुन को विशेष ख्याति मिली। आंचलिक उपन्यासों की श्रृंखला में सर्वप्रथम प्रकाशित उपन्यास होने के नाते, इसे हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास के रूप में भी मान्यता मिली है।

'बलचनमा' आत्मकथात्मक उपन्यास है। इसमें स्वयं नायक बलचनमा अपनी कथा कहता है। इसका कथाक्षेत्र मिथिला है। आंचलिक उपन्यास की नायक विहीन कल्पना, अर्थात् 'अंचल' के ही नायक होने की अवधारणा, के विपरीत इसमें मानव-पात्र बलचनमा नायक है और उसका चरित्र सविस्तार दिखलाया गया है। बलचनमा के चारित्रिक विकास के साथ इस उपन्यास की कथा का विकास हुआ है और परिवेश, भाषा तथा शैली के स्तर पर आंचलिक विशिष्टताएं भी स्पष्ट हुई हैं। बलचनमा का 14 से 22 वर्ष तक का जीवन इसमें चित्रित है, जिससे एक कथानायक के जीवनवृत्त का क्रमबद्ध स्वरूप प्रस्तुत होता है।

'बलचनमा' में जमींदारी-प्रथा की समस्त बुराइयों-बेगारी प्रथा, शोषण, अमानुषिक अत्याचार, मनमाना यौनाचार, आर्थिक असमानता, गरीबी आदि उभरकर आई हैं और इन्हीं आंचलिक समस्याओं के विभिन्न रेशों से कथावृत्त बुना गया है।"[1]

नायक बलचनमा सिर्फ चरवाहा ही नहीं था, उनका बहिया भी था। इसी चरवाही और बहियागिरी से वह अपना और अपने परिवार की आजीविका चलाता है। जमींदारी शोषण की प्रवृत्ति पूरे उपन्यास में चित्रित है। 14 वर्ष की अवस्था में अपने पिता पर ही दिल को दहला देने वाले मर्मांतक अमानवीय अत्याचार को देखता बलचनमा—'अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है···मालिक के दरवाजे पर मेरे को एक समेती के सहारे कसकर बांध दिया गया है। जांघ, चूतर, पीठ और बांह—सभी पर बांस की हरी केली के निशान उभर आये हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल

1. डॉ० जवाहर सिंह : आंचलिक उपन्यासों को शिल्पविधि, पृ० 90

उधड़ गई है।'[1]

बलचनमा भी बचपन से ही गालियां, मार, तिरस्कार, अपमान सहता है। इसका जिक्र वह कई बार करता है—'इस तरह गालियां, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुतकार और फटकार यही वह रास्ता था, जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था।'[2]

'मालिकान में कोई ऐसा नहीं था जो बिना गाली दिये मुझे सम्बोधित करता हो। बात-बात में, साला! बात-बात में ससुर, पाजी और नमकहराम का तो कहना ही क्या।'[3] इस पर विडम्बना यह कि उसके पिता की जिन अत्याचारियों के बर्बर और अमानवीय हाथों से मृत्यु होती है, पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे उन्हीं की बहियागिरी और चरवाही करनी पड़ती है।

अपने पुरखों से प्राप्त बलिष्ठ डील-डौल वाला बलचनमा ईमानदार और मेहनती है—'ईमानदार और मजबूत काठी का था, उसी से महीना पीछे पांच-सात मजूरियां भी मुझे मिल ही जातीं। मेरी शोहरत थी कि बलचनमा खूब मन लगाकर काम करता है। एक मजूरी में वह सवा मजूर की मेहनत करता है।'[4]

हमेशा गालियां, मार, तिरष्कार सहने वाले बलचनमा की भावनाएं मरती नहीं हैं। उसे भी जरूरत पड़ती है किलकारियां भरते बच्चों की। निगाहों से ममता टपकाने वाली मां-बहनों, मिठास-भरी बोलियों वाली भाभियां, दिल-दिमाग को गुदगुदाकर गम को गर्क कर देने वाले हमदर्द साथी—वह सब न हुआ तो खाली हरियाली, खाली घर-आंगन, खाली बांस काठ किस काम के ?[5]

अनेक अवसरों पर मां, बहन, संतति या फूलबाबू, राधा बाबू को लेकर भावुक हो उठना उसकी संवेदनशीलता की परिचायक है। बल्कि वह तो पूरे अंचल से ही विशेष आत्मीयता अनुभव करता है। बलचनमा अशिक्षित है, परन्तु बाद में शहर जाकर फूलबाबू, राधाबाबू के सम्पर्क में थोड़ा-बहुत लिखना-पढ़ना सीखता है तथा अन्य व्यावहारिक बातें, जिन्हें अशिक्षित नहीं समझते, उन्हें भी वह फूलबाबू का नौकर बनकर, आश्रम का कार्यकर्ता रहकर और मजदूरों का अगुआ बनकर सीखता है।

बलचनमा बचपन से ही वर्ग व ग्राम्य जीवन के कटु अनुभवों से संत्रस्त रहता है। वह जागरूक एवं चेतनासम्पन्न है। इस सन्दर्भ में डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' में लिखते हैं—'इसमें नागार्जुन ने नये विद्रोही किसान के दर्शन किये हैं, जिसका एक बहुत क्षण संकेत हमें प्रेमचन्द के 'गोदान' में गोबर तथा राम-सेवक महतो के रूप में मिलता है। किन्तु जीवन की घटनाओं के प्रति बलचनमा की प्रति-

---

1. नागार्जुन : बलचनमा, (नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं) पृ० 135
2. वही, पृ० 155
3. वही, पृ० 155
4. वही, पृ० 233
5. वही, पृ० 215

क्रियायें साधारण भारतीय किसान की प्रतिक्रियायें नहीं—जिसमें तर्क की अपेक्षा श्रद्धा की प्रचुरता होती है।'

यह चेतना उसमें मां और विपत्तियों-द्वारा बचपन में ही जागृत हो गई थी। बलचनमा में मां के द्वारा बोये गये संस्कार—मर जाना लाख गुना अच्छा है मगर इज्जत का सौदा करना अच्छा नहीं—कालांतर में बड़े होने पर पल्लवित होते हैं। वह वर्ग-वैषम्य को अन्य निम्नवर्गीय मजदूरों और किसानों की तरह स्वीकार नहीं कर पाता। उपन्यास में जहां-तहां वर्ग-वैषम्य के प्रति आक्रोश व्यक्त करता है—'अच्छा तो भगवान करते ही हैं ! चार प्राणी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया, यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और मां आम की गुठलियों का चूरा चूर-चूरकर फांकती थी, यह भी भगवान ठीक ही करते थे और मालिक लोग कनकजीर, और तुलसी फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परमल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते थे, सो यह भी भगवान की ही लीला थी। चौकोर कलमबाग के लिए उनको हमारा खेत चाहिए था और हमें चाहिए अपने चौकोर पेट के लिए मुट्ठी भर दाना।"[1]

यह आक्रोश परिस्थितियों के थपेड़े खाकर इतना प्रबल हो उठा कि सोशलिस्ट बनकर यह वर्ग-वैषम्य के संघर्ष में हिस्सा लेता है। उसकी बहन रेवती पर हुए बलात्कार के प्रयास ने तो उसकी 'जिनगी के बहाव को ही मोड़ दिया' और वह खुलकर जमींदारों, शोषकों के विरोध में खड़ा हो जाता है। वह गांव के मालिक से बदला लेना चाहता है। परन्तु उसका यह सुनकर मोहभंग होता है, जबकि फूलबाबू उससे कहते हैं—'तुम्हारा तो आपस का झगड़ा है, बहिया महतो का। इसका निवटारा भी तुम्हीं दोनों कर लोगे। इसमें मेरी कोई जरूरत नहीं। आ, जाकर अपने मालिक के ही पैर पकड़ें। वह तुझे माफ कर देंगे।'[2] वह सोचता है—'कैसे धोखे में पड़ा हुआ था। मेरा सारा मोह क्षण-भर में फट गया। साफ-साफ दीखने लगा कि बाबू भैया लोग वहीं तक हमारा पक्ष लेंगे, जहां तक उनका अपना मतलब रहेगा।'[3]

विक्षोभ के मारे अपने सोच में क्रांतिकारी बलचनमा का सोशलिज्म में अथाह विश्वास उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि—'रोजी-रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई...बुढ़ापे की बेफिक्री...खान-पान और रहन-सहन का और ठिकाना...दवा-दारू पथ-पानी का इन्तजाम...यह सब सभी के लिए सुलभ होगा, दरभंगा के महाराज, चाहे पटना के लाट साहब मुफ्त का खाना किसी को नहीं मिलेगा...सब काम करेगा, सब दाम पाएगा...लूल-अपंग, बूढ़-बेकार सबकी जिम्मेदारी सरकार को उठानी पड़ेगी, पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुवा गुलाम नहीं बना सकेगा—ठीक ही तो कहते हैं सोसलिस्ट भाई, जिसका हर-फार, उसकी धरती ! जिसका हुनर और जिसका हाथ, उसी का कल-कारखाना।'[1]

1. नागार्जुन : बलचनमा, (नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं) पृ० 143-144
2. वही, पृ० 195
3. वही, पृ० 195
4. वही, पृ०

'बलचनमा' में, या कि राजनैतिक मतवाद अर्थात् सोशलिज्म से प्रेरित नायक बलचनमा का, एक निश्चित उद्देश्य है—शोषण का विरोध। 'मैला आंचल' तथा 'परती-परिकथा' में आंचलिक चित्रण जिस बाद-निरपेक्षता से हुआ है, वैसा बलचनमा में नहीं है। 'बलचनमा' पर आरोप लगाया जाता है कि उस पर सोशलिज्म का गहरा प्रभाव है—'यहां लेखक आंचलिक चित्रण तटस्थ भाव से नहीं करता, वह राजनैतिक मत-वादिता से प्रेरित रहा है। प्रसंग-चयन, विभिन्न वर्गों के प्रति मोह-घृणा, अन्त में कथा की राजनैतिक परिणति तथा निर्णय-निरूपण में उसकी राजनीति-परिचालित दृष्टि का प्रभाव मिलता रहता है। इस प्रकार बलचनमा का सारा शिल्प एक ओर तो अंचल-चित्रण, दूसरी ओर मतवादी दृष्टि से निर्धारित हुआ है।"[1]

डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी का मत है—'नागार्जुन यदि अपनी दृष्टि को बाद के घेरे से मुक्त करके लिखते, तो शायद अधिक हृदयस्पर्शी चित्र और चरित्र देने में समर्थ होते।'[2] इतना तो स्पष्ट है कि नागार्जुन विचारधारावादी उपन्यासकार हैं, और जहां तक 'बलचनमा' उपन्यास का प्रश्न है, इसमें नागार्जुन ने सोशलिज्म का प्रचार 'बलचनमा' के माध्यम से कराया है। कथा का विकास तथा बलचनमा का चारित्रिक-विकास भी ऐसी परिस्थितियों में डालकर किया है कि उसका सोशलिस्ट बनकर ओर जुल्म के खिलाफ आवाज उठाना कहीं से भी अस्वाभाविक या असंगत नहीं लगता।

हालांकि आंचलिक उपन्यासों पर प्रथम शोधकार्य प्रस्तुत करने वाली डॉ० नगीना जैन के मत में—'यह दृष्टि पात्रों के सहज तथा अस्वाभाविक जीवन के रूप में विकसित हुई है। अतः नागार्जुन की समाजवादी जीवन-दृष्टि वैचारिक या सैद्धांतिक स्तर पर आरोपित होने का आभास नहीं देती, यह संवेदना के स्तर पर आत्मसात होने का परिचय देती है। इसका विकास परिस्थितियों के भीतर से होता है।'[3]

सोशलिज्म से गहरे प्रभावित होने के कारण इन्द्रनाथ मदान-प्रभृति कुछ आलोचक भी आंचलिक कृति मानने से इंकार करते हैं। जबकि वास्तविक यह है कि समाजवादी दृष्टि के साथ ही आंचलिकता का चित्रण लेखक ने बखूबी किया है और यह उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में सहज ही समाविष्ट कर लिया गया है।

'बलचनमा (1952) शुद्ध आंचलिकता के कारण हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास माना जाता है।'[4]

नागार्जुन चूंकि इसी मिथिलांचल के निवासी थे, इसी से आंचलिक चित्रण अत्यन्त सहज स्वाभाविक रंग से हुआ है इसमें 'तिरहुत देश की प्राकृतिक विशिष्टता वर्ग-व्यवस्था, उपज-उपादान, खेती-साधन, आजीविका-साधन, रहन-सहन, असन-वसन, विवाह-मुंडन, बोली-वाणी तथा प्राकृतिक विपत्तियों का यथार्थ अनुभूत्यात्मक परिचय

1. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 562
2. डॉ० महेन्द्र : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 209
3. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० 131
4. डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 132

दिया है। अन्य अंचलों से पार्थक्य की परिचायक स्थानीय विशिष्टता के वर्णन पर लेखक की दृष्टि रही है और उसका अभिधात्मक कथन हुआ है।'[1]

नायक और कथा-संगठन की दृष्टि से जरूर यह उपन्यास आंचलिक उपन्यास के अनुकूल नहीं है; क्योंकि आंचलिक उपन्यासों की तरह नायकविहीनता और कथागत-बिखराव इसमें नहीं मिलता, परन्तु क्षेत्र, कथावस्तु पात्रों की अधिकता, भाषा, यथार्थ-चित्रण, रीति-रिवाज, लोकतत्वों की दृष्टि से यह आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी है।

यथार्थ-चित्रण नागार्जुन के उपन्यासों की मुख्य विशेषता है। फिर मिथिलांचल का जो जीवन स्वयं उन्होंने जिया है और वह उनकी चेतना-संवेदना में रमा हुआ है।

'मिथिला के ग्रामीण जीवन से उनका घनिष्ठ परिचय है। निम्न और मध्यवर्गीय जीवन का आर्थिक, सामाजिक संघर्षों और घुटन उनकी देखी-जानी और भोगी हुई है।' ···परन्तु नागार्जुन जी ने 'बलचनमा' में यथार्थ-चित्रण कहीं-कहीं अश्लीलता की इस हद तक किया है कि डॉ० सत्यपाल चुघ कहे बिना नहीं रह सके कि 'वस्तुत: लेखक को चयन-वृत्ति से काम लेना चाहिए था। शौच-क्रिया का ध्वनि-चित्र अंकित करते, तो नागार्जुन ने औचित्य-सीमा तथा शिष्टता का अतिक्रमण कर दिया है। इसी तरह असभ्य गालियों का उल्लेख करके यथार्थवाद को विकृत सीमा तक पहुंचा दिया है।'[2] वास्तव में यथार्थ की भोंडेपन का हद तक पहुंची प्रस्तुति खलती जरूर है।

बलचनमा की पत्नी सुगनी बड़ी सुधड़ गुणवान, मेहनती और अच्छे स्वभाव वाली स्त्री है। सुगनी से पूर्णत: सन्तुष्ट बलचनमा उसकी तारीफ करते नहीं अघाता—जनानी मुझे बड़ी गुणवती मिली।···'सुगनी मां को इतना आराम पहुंचाने लगी कि कुछ मत पूछो। घर के अन्दर का कोई काम वह बुढ़िया को नहीं करने देती थी। दुपहरिया में खाने के बाद और रात को सोते बखत सुगनी मलसी में तेल लेकर अम्मा के पायताने बैठ जाती, लगती ओड़-डाड़ चांमने। कुंआ पर जाकर नहला देती थी। राख, गोबर खेत में डालना होता, तो खुद ही डाल आती।'[3]

बलचनमा जिस मालिक के यहां चरवाही और बहियागिरी करता था, उन्हीं के भतीजे फूलबाबू के गांधीवाद से प्रभावित चरित्र को भूकम्प के समय अचानक अवसरवादी और भ्रष्ट दिखाया गया है। भूकम्प की क्षति-पूर्ति के लिए जो धनराशि मिलती है, उसका काफी हिस्सा फूलबाबू पांवली से हथिया लेते हैं।

एक और पात्र राधाबल्लभ नारायण ठाकुर उर्फ 'राधाबाबू' सौराजी हैं। बाद में सोशलिस्ट हो जाते हैं। फूलबाबू से मोहभंग के पश्चात् बलचनमा इन्हीं राधाबाबू के संसर्ग में रहकर समाजवादी बन जाता है। सुखिया, बलचनमा की मां, दादी, बहन, सबूरी मंडल, बल्ली बाबू, लालदास, रहमान बाबू, ठाकुर, लवंगलता, दामो ठाकुर,

1. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० 162
2. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० 567
3. नागार्जुन : बलचनमा, (नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएं) पृ० 230-231

धनवंती, कामेन्द्रप्रसाद नारायण सिंह—ये सभी पात्र मिलकर वर्ग-संघर्ष और अंचल को मुखर करते हैं।

नागार्जुन ने इस उपन्यास के लिए आत्मकथात्मक और वर्णनात्मक शैली अपनायी है। भाषा में मिथिलांचल की स्पष्ट छाप है। वैसे तो खड़ी बोली का ही प्रयोग है, परन्तु स्थानीय शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा में आंचलिक प्रभाव भी दिखाई देता है। टीसन, जिनगी, लाटफारम, पंख, अंजीरिया, मिमस्तीन, खखास, असूलते, जाएता ढीह, बथान, बखार, पनपिआई, परखा, निम्मन, लौकता, जिनगानी, बिजना, आखर, मुदा, अवसान, लबज, कचार देना, बरमबध, स्कूली सिनेह, परफेसर इत्यादि शब्दों का प्रयोग इसका उदाहरण है।

कुछ गालियां—सुगरतोफा, संध्याडाही, कोढ़िया, रांड, कुछेक अश्लील गालियां भी हैं। मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी बलचनमा में है जैसे—नाक रगड़ना, कलेजा फटना, तबीयत हरी हो जाना, पौ बारह कटना, कलेजा कांपना, दांत निपोड़ना, पैरों के नीचे से मिट्टी खिसकना, आंखों के आगे अंधेरा छा जाना, आग में घी डालना, पानी में रहकर मगर से बैर, आन गामक पोखरि, अपना गामक गाछी, जाके पांव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।

कुछेक अवसरों पर, प्रसंगानुकूल लोकगीतों का प्रयोग भी बलचनमा में है—

सखि हे मजरल आमक बाग
कुहू-कुहू चिकरइ कोहलिया
झांगुर गावए फाग !
कन्त हमर परदेस बसइ छथि
बिसरि राग अनुराग !
विधि भेल बाम, सील भैल बैरी
फूटि गेल है भाग !
सखि है मजरल आमक बाग···

गरीबी के कारण अपने दुर्दिनों को रोता हुआ जमींदारी जुल्मों के खिलाफ किसानों को चेताने के लिए सभा के अन्त में नौजवान गाता है—

दुर्दिनमा केलक हैरान
रे फिकिरिया मारलक जान !
करजा करिके खेती कैलूं, मौर गेलइ सब धान—रे फिकि०
बैल बेचि रजवा के देलूं, छोड़ए नहिं बेईमान
जमींदार के जुलुमी रोकड़, चेतऽभाई किसान—रे फिकि०

नागार्जुन की भाषा सरल, सुबोध है। बलचनमा के कथनों में व्यंग्यात्मकता मिलती है, जहां वह शोषकों को भला-बुरा कहता है। डॉ० जवाहर सिंह के अनुसार—'नागार्जुन के भाषा-शिल्प की सबसे प्रमुख विशेषता है, सरलता, सीधापन, सपाटबयानी और इतिवृत्तात्मक वर्णनात्मकता। इस सपाट वर्णनात्मकता में प्राण फूंकने वाला कोई तत्व है, तो वह है व्यंग्यात्मकता। भाषा-शिल्प की सपाटबयानी और वर्णनात्मकता

नागार्जुन के उपन्यासों में सकारण है, अनायास नहीं। मतवादिता के आग्रह के कारण आंचलिक जीवन के बाह्य यथार्थ—आर्थिक सामाजिक पक्षों तक ही यह अपने को सीमित करके रह गये हैं, उसकी सम्पूर्ण आन्तरिकता, मानसिकता तथा भावात्मक, रागात्मक और सांस्कृतिक पक्षों के वर्णन-विश्लेषण तथा चित्रांकन का अवकाश इन्हें मिला है। इसलिए स्थूल एवं तथ्यात्मक विषयों के वर्णन के लिए जैसी स्थूल तथ्यात्मक भाषा चाहिए, वैसी ही इनकी भाषा है।'[1]

समाजवादी दृष्टि का बलचनमा के शिल्प पर भी प्रभाव पड़ा है। आंचलिक उपन्यासों की भांति शिल्प में बिखराव नहीं। कथा का सूत्र टूटता नहीं, क्योंकि नागार्जुन जी के लिए, रेणु की भांति अंचल साध्य नहीं है। उनके समाजवादी दृष्टि से प्रभावित शिल्प के विषय में जवाहर सिंह फिर कहते हैं – 'नागार्जुन के उपन्यासों का सारा शिल्प इनकी मतवादी दृष्टि और सैद्धांतिक प्रतिबद्धता से निर्धारित हुआ है। लेखक अपने राजनीतिक मतवादों से इतना ग्रस्त है कि कथा के प्रसंग-चयन, पात्र-कल्पना, कथा का विशेष उद्देश्यमूलक प्रारम्भ और अन्त तथा सम्पूर्ण कथा-योजना में ही उसकी राजनीति परिचालित दृष्टि के प्रमाण मिल जाते हैं।'[2]

शिल्प पर समाजवादी दृष्टि का प्रभाव होने के बावजूद कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में आंचलिकता के तत्व इसके अन्य औपन्यासिक तत्वों में प्रचुरता से हैं। इसीलिए निस्संकोच इसे आंचलिक उपन्यास माना जाता है। 'बलचनमा' के लेखक के रूप में नागार्जुन जी के सम्बन्ध में इस निष्कर्ष से असहमत होना कठिन ही होगा कि— 'वास्तव में नागार्जुन न केवल आंचलिक उपन्यासकार हैं, और न केवल मार्क्सवादी कवि, बल्कि उनका रचनाकार का व्यक्तित्व महत्व का है, जो कभी मार्क्सवादी दिखाई देता है, तो कभी आंचलिक। वस्तुतः नागार्जुन ने समाजवाद और आंचलिकता के बीच एक नये सेतु का निर्माण किया है।'[3]

सामन्तवादी व्यवस्था के और शोषण के चित्रण और गांधीवादी चरित्रों के उद्घाटन, स्त्रियों-पुरुषों की काम-विकृतियों के संकेतात्मक वर्णन उपन्यास को उस अर्थ में आंचलिक नहीं बनने देते जैसा 'मैला आंचल' या 'परती-परिकथा' है, परन्तु मिथिला के जीवन और समाज की छवि दिखाने का भाव, लोगों को आकर्षित करने का भाव उपन्यास की बुनावट में है, इसीलिए यह आंचलिक है।

मैला आंचल

हिन्दी उपन्यास साहित्य में आंचलिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ करार दिया गया एवं सर्वाधिक चर्चित 'मैला आंचल' फणीश्वरनाथ रेणु का पहला आंचलिक उपन्यास है। प्रशंसा हो या आलोचना, हिन्दी पाठकों और आलोचकों को 'मैला आंचल' ने अत्यधिक

---

1. डॉ० जवाहर सिंह : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० 227
2. वही, पृ० 123
3. डॉ० अमर जायसवाल : बहुचर्चित उपन्यासकार, पृ० 13-14

प्रभावित किया और उन्हें 'आंचलिक उपन्यास' नामक एक नये औपन्यासिक प्रकार पर सोचने-विचारने और उसे मान्यता देने के लिए विवश कर दिया।

'मैला आंचल' ने हिन्दी-उपन्यास जगत् में क्रांति उत्पन्न कर, 'आंचलिक उपन्यास' के लिए प्रेरणा-स्रोत का कार्य किया। इसकी प्रेरणा से अनेक आंचलिक उपन्यास लिखे गये। 'मैला आंचल' उपन्यास-विधा की परम्परा में शिल्प ही नहीं, बल्कि संवेदन के धरातल पर भी नयी दिशा के प्रवर्तन की दृष्टि से किया गया एक सफल प्रयोग है। इसके पहले जो आंचलिक उपन्यास लिखे भी गये, वो आंचलिकता के तात्विक प्रतिनिधित्व के मामले में 'मैला-आंचल' के स्तर के नहीं हैं तथा 'मैला आंचल' की भूमिका में 'आंचलिक उपन्यास' नामक नये औपन्यासिक प्रकार के नामकरण के पश्चात् ही उन्हें भी आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में शामिल किया गया है। इससे पूर्व उन उपन्यासों की चर्चा या मूल्यांकन में 'आंचलिक' विशेषण कभी नहीं लगाया गया। 'बलचनमा' या 'कब तक पुकारूं' इस तथ्य के उदाहरण हैं।

वाद-विवाद कम नहीं उठे। इस प्रसंग में 'मैला आंचल' के विषय में डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने अपनी 'आज का हिन्दी उपन्यास' शीर्षक पुस्तक में यह निष्पत्ति दी है कि—'रेणु के इस उपन्यास के छपने के बाद अन्य उपन्यासों में आंचलिकता को खोज निकालना और उन पर शोध का जारी होना आरोपित दृष्टि का परिणाम जान पड़ता है। यह पहले कहा जा चुका है कि आंचलिक उपन्यास को एक स्वतंत्र प्रवृत्ति के रूप में मान्यता देना इसी तरह असंगत है, जिस तरह ऐतिहासिक उपन्यास को।'

डॉ० मदान की इस स्थापना से सहमत होना कठिन है, क्योंकि डॉ० मदान आंचलिक उपन्यासों को एक भिन्न औपन्यासिक प्रकार के रूप में मान्यता देने से ही इंकार करते दिखाई पड़ते हैं। जबकि आंचलिक उपन्यास में है, तो औपन्यासिक तत्व ही, परन्तु उद्देश्य, वस्तु, भाषा, शैली, चरित्र-चित्रण, रूप सभी दृष्टियों से भिन्न होने के कारण निरूपण या रचना-विधान में इतना अन्तर आ जाता है कि परम्परागत उपन्यासों से बिलकुल भिन्न दिखाई पड़ता है।

ठेठ या समग्र आंचलिक उपन्यास में तो, अवधारणा की बुनियादी शर्त के तौर पर भी, अंचल को, उपन्यास के रचना-विधान में 'केन्द्रीयता' मिल जाती है। 'रेणु' जी ने 'मैला आंचल' में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली तथा शिल्प के माध्यम से एक ऐसे वातावरण का निर्माण किया है, जिससे मेरीगंज अंचल की संस्कृति, रहन-सहन, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विशेषताएं मुखर हो उठी हैं और इस प्रकार मेरीगंज अंचल का व्यक्तित्व विशिष्ट एवं अपनी सम्पूर्णता में प्रकट हुआ है। अन्य औपन्यासिक प्रकारों से उसके स्वरूप की समानता नहीं की जा सकती। इसलिए आंचलिक उपन्यास को निर्विरोध एक स्वतंत्र प्रकार का उपन्यास मानने से असहमत नहीं हुआ जा सकता। 'मैला आंचल' हर दृष्टि से हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में निःसन्देह श्रेष्ठ है।

उपन्यास दो खण्डों में है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से कुछ वर्ष पूर्व तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से, अप्रैल 1948 तक के कालखण्ड की कथावस्तु को इसमें समेटा गया है। जहां तक उपन्यास के भौगोलिक फलक का एक प्रश्न है, बिहार राज्य के पूर्णिया जिले के

मेरीगंज अंचल का समग्रता में चित्रण ही 'मैला आंचल' का उद्देश्य है; जो भावनात्मक तथा वैचारिक धरातल पर निश्चित ही आंचलिकता की रूढ़ सीमाओं का अतिक्रमण करता है, जैसा कि निर्मल वर्मा ने जोर देकर कहा—'रेणु ने जिस तीली से किसान के उदास धूल-धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था, उसी तीली से हिन्दी के परम्परागत यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे को भी एकाएक ढहा दिया था। मेरे विचार में यह रेणु की अविस्मरणीय देन है और उपलब्धि है। 'मैला आंचल' (और परती परिकथा) महज उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं, वे भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं, जिन्होंने झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी, जो यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव, कथ्यात्मक परम्परा को तोड़ा था—उसे अलग-अलग 'एपिसोड' में बांटा था, जिन्हें जोड़ने वाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा 'लैण्डस्कैप' था, जो अपनी आत्यंतिक लय में उपन्यास को रूप और 'फॉर्म' देता है। रेणु जी यहां समय में बंधी घटनाएं नहीं। ऊबड़-खाबड़ जिन्दगियों की यह लय, स्पन्दन उपन्यास के हिस्सों को एक-दूसरे से जोड़ती है। रेणु जी पहले कथाकार थे, जिन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय सम्भावनाओं की तलाश की थी। शायद, सजग रूप से नहीं। शिल्प और सिद्धान्त के स्तर पर तो अवश्य ही नहीं। बल्कि एक ऐसे रचनात्मक स्तर पर, जहां जिन्दगी का कच्चा माल स्वयं कलाकार के हाथों अपने प्राण, जो फॉर्म का दूसरा नाम है, खींच लेता है, ताकि वह एक नये खुले, मुक्त ढांचे में सांस ले सके।"[1]

उपरोक्त विस्तृत उद्धरण 'मैला आंचल' के हिन्दी-साहित्य में आंचलिक उपन्यासों की अवधारणा का प्रस्थान-बिन्दु होने का ही नहीं, बल्कि हिन्दी के उपन्यास-साहित्य को नयी दिशा देने का प्रमाण देता है। खासतौर से इसका महत्व इसलिए भी है कि निर्मल वर्मा स्वयं भी एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार ही नहीं, बल्कि हिन्दी की कथा-विधाओं पर गहरा चिंतन प्रस्तुत करने वाले लेखकों में गिना जाते हैं।

कोई सुसंयोजित अथवा क्रमबद्ध प्रासंगिक कथा 'मैला आंचल' उपन्यास में नहीं बल्कि अनेक छोटी-बड़ी कथायें हैं। कथा-संगठन की दृष्टि से देखा जाए, तो उपकथाओं के सूत्र आपस में नहीं जुड़े हैं। एकसूत्रता के इस अभाव को महसूस करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं—'उपन्यास का कथानक बिखरा हुआ है तथा विभिन्न जीवन-स्थितियों एवं छोटे-छोटे कथा-प्रसंगों का संग्रह-मात्र प्रतीत होता है। इसी प्रकार इसमें दर्जनों पात्रों की भीड़ है तथा मुख्य कथा-जैसी चीज का अभाव है। नायक की परम्परागत कल्पना भी इसमें नहीं हैं; क्योंकि स्वयं अंचल ही इसका नायक है।'[2]

छोटी-से-छोटी घटना या प्रसंग, जिसका कथा के विकास में नाममात्र भी योगदान नहीं है, उसको भी रेणु ने अपने उपन्यास में वर्णित किया है, सिर्फ इसीलिए कि मेरीगंज अंचल की विशिष्टता सूक्ष्मता से उजागर हो सके। इस प्रसंग या घटनाओं के सूत्र एक-

1. निर्मल वर्मा : दिनमान, अगस्त 1989, पृ० 77
2. सम्पादक—डॉ० नगेन्द्र ; भारतीय साहित्य कोश, पृ० 116

दूसरे से गुंथते हुए मेरीगंज अंचल से जुड़ते हैं। 'मैला आंचल' में शिल्प-प्रयोग की इस पद्धति के द्वारा रेणु जी ने यह सिद्ध किया है कि आंचलिक उपन्यासों में बिखराव कमजोरी नहीं है। अगर कि अंचल की विशिष्टता को समग्रता में व्यक्त करने पर बिखरात्र उत्पन्न होता है—'आंचलिक उपन्यास में बिखराव की स्थिति उसका मेरुदण्ड है, फलस्वरूप उसके कथानक में परम्परागत उपन्यास के कथानक की विशेषतायें—क्रम, संतुलन, व्यवस्था,-सुगढ़ता और यांत्रिकता नहीं रहती। आंचलिक उपन्यासकार का मुख्य लक्ष्य होता है, एक सीमित अंचल की सम्पूर्ण छवि अनेक पक्षों एवं कोणों से प्रस्तुत करना और अपने इस लक्ष्य को पूर्ण करने में लेखक बाह्य संगठन को नहीं बना पाता।'[1]

रेणु ने 'मैला आंचल' में मेरीगंज की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, स्थितियों, मान्यताओं और जीवन का आंखों देखा चित्रण किया है। मेरीगंज एक पिछड़ा अंचल है, जहां विकास नहीं के बराबर हुआ है। मेरीगंज में विकास और चेतना उत्पन्न करने की प्रेरणा से ही रेणु ने 'मैला आंचल' लिखा और उसे आंचलिक उपन्यास कहा। मेरीगंज में विकास की लहर अंचल से बाहर के पात्रों—मार्टिन, प्रशांत और चर्खा समिति के अध्यक्ष बावनदास के माध्यम से आती है। मार्टिन ने रोतहट स्टेशन से मेरीगंज तक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क बनवाई तथा गांव में पोस्टआफिस खुलवाया। प्रशांत के माध्यम से मलेरिया-सेंटर खुला और बावनदास के जरिये मेरीगंज में कांग्रेसी राजनीति का प्रचार होता है। लेखक ने एक ओर यदि मेरीगंज की सामाजिक-आर्थिक-विषमता, अवसरवादी राजनीति, अनैतिकता, अन्धविश्वास, धार्मिक आडम्बर एवं जमींदारों की शोषण की प्रवृत्ति इत्यादि बुरे पक्षों को व्यंग्यात्मक लहजे में यथार्थ ढंग से चित्रित किया है, तो दूसरी ओर मेरीगंज के अच्छे पक्ष को भी उतनी ही खूबी से उभारा है। रेणु ने पहली बार किसी विशिष्ट पिछड़े अंचल की समस्त अच्छाइयों और बुराइयों का वर्णन अपनी सम्पूर्ण आस्था एवं रागात्मकता से किया है— 'हिन्दी में पहली बार किसी अंचल-विशेष के उपेक्षित जीवन की समस्त छवि और कुरूपता, सीमा, विवशता और सम्भावना को इतनी मानवीय ममता और सूक्ष्मता से रूप दिया गया है।'[1]

'मैला आंचल' में अनेकानेक पात्रों की भरमार है—प्रशांत, बावनदास, बालदेव, कमली, विश्वनाथ प्रसाद, लोबिनदास, बिरंचीदास, कालीचरन, रामदास महंथ, रामकिरनपाल सिंह, बहरा चेथरू, प्यारू, खैलावनसिंह यादव, सुनरा, सेवादास, गनेश, शिवशक्कर सिंह, सुमरितदास, वासुदेव, ममता आदि। इसमें किसी भी पात्र की निर्मिति निरुद्देश्य नहीं है। हर पात्र के चित्रण से अंचल की कोई-न-कोई विशिष्टता ही उजागर होती है। किसी व्यक्ति-विशेष का चित्रण नहीं, कारण कि अंचल-विशेष को सम्पूर्णता से अभिव्यक्त करने में ही लेखक का मन इतना रम गया है कि वह किसी व्यक्ति-विशेष

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 75, सम्पादक : डॉ० रामदरश मिश्र डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त।

को कोई स्वतंत्र महत्व नहीं दे पाया ।

'मैला आंचल' में प्रसंगों, घटनाओं और पात्रों की भरमार होने से कोई भी प्रसंग, घटना या पात्र अलग से अपना स्थायी और गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाता। 'मैला आँचल' के चरित्र-चित्रण पर आरोप लगाया जाता है कि 'रेणु' इसमें गोदान के होरी या 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर सरीखे बड़े चरित्रों की सृष्टि नहीं कर पाये हैं। फिर भी डॉ० प्रशांत या बावनदास अन्य सामान्य पात्रों से थोड़ा अलग दिखाई देते हैं । डॉ० प्रशांत अज्ञात कुलशील, मानवता प्रेमी, उदात्त और निर्लोभी चरित्र वाला युवक है, जो विदेश जाने के लिए 'स्कॉलरशिप' के प्रस्ताव को अस्वीकार कर, पूर्णिया जिले के किसी गांव में मलेरिया एवं कालाजार पर शोध करना चाहता है। मेरीगंज में हैजा फैलने पर रोगियों की सेवा में दिन-रात लगा रहता है। उसके अथक सेवा-कार्य से उस वर्ष केवल पांच व्यक्ति ही मरते हैं। प्रशांत 'मैला आंचल' का एक ऐसा पात्र है, जिसमें बड़े चरित्र की पूरी सम्भावना दिखती है, परन्तु लगता है कि मेरीगंज अंचल को समग्रता में चित्रण करने के प्रबल आग्रह के कारण लेखक ने उसे एक सीमा से आगे ले जाने, या उसे एक अपेक्षाकृत बड़े चरित्र के रूप में उभारने पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया।'

रेणु ने 'मैला आंचल' में एक साथ कई शैलियों का प्रयोग किया है । पत्र-शैली का प्रयोग (ममता-प्रशांत के बीच पत्र-व्यवहार में) रिपोर्ताज शैली, रेखा चित्रात्मक शैली, वर्णनत्मक शैली तथा असंख्य घटनाओं और प्रसंगों के माध्यम से मेरीगंज अंचल को समग्र रूप में खण्ड चित्रात्मक शैली में अभिव्यक्ति मिली है ।

एक आंचलिक उपन्यास में भाषिक कमजोरियों या शक्ति की जो भी संभावनायें हो सकती हैं, वो जैसे एक बड़े पैमाने पर 'मैला आंचल' में उभरकर आई है। रेणु ने अंचल के निवासियों के रहन-सहन, धर्म-संस्कृति, समाज, राजनीति आदि का परिचय देने में वहां की भाषा या बोली से काफी कुछ ग्रहण किया है । लेखक ने खड़ी बोली और मेरीगंज की बोली ही नहीं, अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का भी आंचलिकता के रंग में रंगकर प्रयोग किया है। यह तालमेल इतना सुन्दर है कि कहीं-कहीं भाषा हू-बहू अंचल की न होने पर भी मेरीगंज अंचल की बोली के ठेठपन का आभास कराती है।

अंग्रेजी शब्दों—बिलेक (ब्लैक) पोलटीस (पलिटिक्स), नामनेसन (नॉमिनेशन) दिमाकृषि (डेमाक्रेसी) डिफेट (डिफेक्ट) टीसन (स्टेशन) डाकदर (डाक्टर) को अंचल की भाषा में डालने का प्रयोग है। इसके अलावा के हिंसावात, सुराज, गन्ही, इसचिस, गियानी, चिकटा, तिव्र, हिज्म, किरान्ती, संघर्ष, चसमा, मुसबलिया, विघिन, जरिपाना इत्यादि जैसे शब्दों को भी उपन्यास में धड़ल्ले से प्रयुक्त किया गया है । आंचलिक शब्दों का प्रयोग या पुट कहीं सम्प्रेषणीयता में सहायक हुआ है, तो कहीं सुबोधता में बाधक भी ।

'मैला-आंचल' में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 232

है—गधे के सिर पर सींग जमना, बैल का दिन-भर-खेत, घास चरना, 'चालनी कहे सुई से कि तेरी पैंदी में छेद', 'कूप के वेंग, 'करेला चढ़ा नीम पर' इत्यादि ।

अंचल के स्वाभाविक और यथार्थ चित्रण में लोकगीतों का बहुत बड़ा हाथ होता है। लोकगीतों के द्वारा अंचल का स्वाभाविक, सहज, जीवंत तथा यथार्थ चित्रण मिलता है। 'मैला आंचल' में लोकगीतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है—'मेरीगंज' की लोक-संस्कृति का चित्रण, 'मैला आंचल' में व्यापकता के साथ हुआ है कि इसे यहां की संस्कृति के इतिहास का पृष्ठ कहा जा सकता है।'[1]

विवाह, त्यौहार, देशप्रेम तथा प्रेम पर आधारित लोकगीत अंचल के लोगों की भावनाओं का परिचय देते हैं। दो लोकगीत उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं। पहले लोकगीत का भाव है—किसी के पिया की नींद टूट जाये। गहरी नींद में सोये हुए पिया के सिरहाने पंखा झलती हुई धानी को डर है कि पिया की नींद न खुल जाये, सपना न टूट जाये।

मूल लोकगीत इस प्रकार है—'सब दिन बोले कोयली मोर भिनसरवा···गाया
वैरिन कोयलिया, आजु बोलय आधी रतिया हो रामा···आं···आं
सूतल पिया के जगावे हो रामा···आं···आं···

इसी प्रकार एक दूसरे लोकगीत में नायिका ने अनुपम रूप की मार का भी अद्‌भुत चित्रण हुआ है—

नहीं तोरा आहे प्यारी तेग तरवरिया से
नहीं तोरा पास में तीर जी !···
कौनहि चीजवा से मारलू बटोहिया के,
धरती लोटापेला बेपीर जी···ई—ई···ई···।···"

रेणु जी के पास विविध प्रकार की ध्वनियों के जैसे एक-एक स्वर को भाषा में उतारने की अद्‌भुत क्षमता थी।

'रेणु को ध्वनि पकड़ने की अद्‌भुत शक्ति प्राप्त थी। पशु-पक्षियों की बोलियों, बाजों के स्वर आदि को जिस सटीकता के साथ उन्होंने शब्दबद्ध किया है, वह आश्चर्य-जनक है। इसी शक्ति के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पात्रों के मुख से उच्चरित भाषा, विशेषकर शब्दोच्चारण को, हू-ब-हू पकड़ लिया है।'[2]

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, 'फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कथा' में लिखते हैं—'रेणु के पास तो ध्वनि-यंत्र है, जिसके माध्यम से उन्होंने इस अचल की ग्रामों की, आवाज, पेड़-पत्तों के हिलने की ध्वनि, नाक सिड़ाने और छींकने की आवाजें, हंसुलियों और झांझनों के बजने, कंगनों की खनक तक मूर्त्त कर ली है।'[3]

1. राधेश्याम कौशिक : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ०-74
2. डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की भाषा, पृ० 101
3. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : फणीश्वरनाथ 'रेणु' की उपन्यास कला' पृष्ठ-32

रेणु के द्वारा भाषा में ध्वनियों के प्रयोग का एक सुन्दर नमूना है—

डिन्ना, डिन्ना, डिन्ना, डिन्ना !
अर्थात्···आ जा, आ जा, आ जा, आ जा !
चटधा गिड़वा, चटधा गिड़धा !
आ जा, भिड़ जा, आ जा, भिड़ जा !
धागि डागि, धागि डागि, थागि डागि !
कसकर पकड़ो, कसकर पकड़ो !
चटाक चटवा, चटाक चटवा !
उठा पटक दे, उठा पटक दे !
गिड़-गिड़-गिड़ धा, गिड़ धा, गिड़ धा !
वाह वा, वाह वा, वाह, बहादुर !
ढाक ढिन्ना, तिरकिट दिन्ना !
दांव काट, बाहर हो जा !

'शिल्प के द्वारा उपन्यास की कथावस्तु का संगठन, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा भाषा-शैली का नियोजन किया जाता है। हिन्दी के रेणु-पूर्व उपन्यासों के शिल्प का परम्परागत स्वरूप 'मैला आंचल' में नहीं मिलता। शिल्प की दृष्टि से 'मैला आंचल' हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में अपने प्रकार का एक नितांत नवीन प्रयोग है। इससे उपन्यास-शिल्प का विकास ही हुआ। हालांकि 'मैला आंचल' के शिल्प पर आरोप लगाया जाता है कि इसमें सुसंगठन नहीं है। आरम्भ से अन्त तक सर्वत्र बिखराव मिलता है और यह बिखराव अन्त तक इतना अधिक हो गया है कि उसको उपन्यासकार समेट नहीं पाता, परन्तु 'मैला आंचल' के उद्देश्य को देखते हुए इसे दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि किसी औपन्यासिक कृति की श्रेष्ठता और महानता का एकमात्र प्रतिमान उसका शिल्प-सौष्ठव ही नहीं होता। शिथिल ढांचे, अनुपातहीन संयोजन और अनगढ़ आकार वाले कुछ उपन्यास भी श्रेष्ठ और महान् माने गये हैं और शिल्प की दृष्टि से बहुत सफल उपन्यास भी असफल या अतिसामान्य उपन्यासों की कोटि में डाल दिये गये हैं। प्रथम कोटि में तॉलस्तॉय के 'युद्ध और शांति' प्रेमचन्द के 'गोदान' और रेणु के 'मैला आंचल' को रख सकते हैं, जो औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से कुछ कमजोर या शिथिल होते हुए भी अपनी अन्य विशेषताओं के कारण श्रेष्ठ या महान् उपन्यास माने जाते हैं।'[1]

रेणु ने, शिल्प को सुसंगठित करने के बजाय, अंचल को विविध कोणों से समग्रता में चित्रित किया है, इस बात पर 'मैला आंचल' का मूल्यांकन करने वाले अनेक विद्वानों ने जोर दिया और माना है कि विशिष्ट अंचल का हर कोण से चित्रण करने के लिए इस तरह के शिल्प का प्रयोग आवश्यक भी है—

'मैला आंचल' में अन्तवर्ती धारायें हैं, जो समस्त सागर के अन्तर्प्रांत को

---

1. डॉ० जवाहरसिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 12-13

झकझोरकर रख देती हैं। जितनी समस्यायें, उतनी धारायें। अतः कोई ताज्जुब नहीं कि रेणु की इस रचना की कथायें बिखरी हुई और अस्त-व्यस्त प्रतीत होती हैं। इस कथात्मक शिल्प-योजना में ग्रामीण जीवन की अस्त-व्यवस्तता और आकुलता की लहरें विद्यमान हैं। सभी लहरें आपस में टकराकर घोर गर्जन पैदा करती हैं। समस्याओं के अनेकमुखी प्रसार के बीच कथा-शिल्प की अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता भी प्रशंसनीय है। क्रांतिकारी और प्रतिवादी औपन्यासिक शिल्पविधि का वास्तविक रूप यही हो सकता है। इस दृष्टि से रेणु के कथा-शिल्प में नवीन प्रयोग हुआ है। रेणु प्रेमचन्द से आगे बढ़े हुए प्रगतिवादी औपन्यासिक कथा-शिल्प के अभिनव प्रयोक्ता हैं।'[1]

कहने को कहा जाता—और कहा जा सकता—है कि रेणु 'मैला आंचल' में मेरीगंज की विशेषताओं की समग्रता से उकेरने में चाहे जितने सफल रहे हों, परन्तु उसे व्यापक स्तर पर सम्प्रेषित करने में असफल रहे। उन्होंने मेरीगंज का सार्वभौमिक स्तर पर चित्रण न कर, उसे सिर्फ अंचल-विशेष तक ही सम्बद्ध कर दिया है। तभी तो डॉ० सत्यप्रकाश मित्र को भी यह कहना ही पड़ा—

'आंचलिकता 'मैला आंचल' में बाधक बनती है, प्रतीक नहीं। उपन्यास अपनी सारी सामर्थ्य और शक्ति के बावजूद, देश और काल की सीमा में बंध जाता है।—सीमा ही दोष भी है। यह सीमाबद्धता रचनात्मक अक्षमता का प्रतीक है कि मेरीगंज का चित्रण मेरीगंज की भौगोलिक बनावट तक सीमित होने के कारण सार्वभौमिक स्तर पर सम्प्रेषित नहीं हो पाता।'[2]

'मैला आंचल' को यदि सार्वदेशिकता, कथात्मक एकसूत्रता, चरित्र-चित्रण, शिल्प की दृष्टि से देखें, तो यह एक त्रुटिपूर्ण उपन्यास भी प्रतीत हो सकता है और यदि 'मैला आंचल' को उस दृष्टि से देखें, जो कि 'मैला आंचल' लिखने का उद्देश्य भी है, बिहार के पूर्णिया जनपद के अंचल-विशेष को एक ओर उसकी अपनी पूरी नैसर्गिकता में चित्रित करना और दूसरी ओर उस समय की सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं को भी—तो यह उपन्यास अपनी अनेक त्रुटियों के बावजूद एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास सिद्ध होगा।

'मैला आंचल' के शिल्पगत वैशिष्ट्य और अन्तर्वस्तु की सघनता को लेकर, हिन्दी के विख्यात आलोचक डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है—

'रेणु ने अपने पहले ही उपन्यास 'मैला आंचल' में आंचलिक संवेदना के जिस अनोखे शिल्प (जो इतिवृत्त, संगीत, चित्र, फिल्म रिपोर्ताज आदि अनेक शैलियों के संयुक्त आक्रमण से निर्मित है) को आविष्कृत किया था, उसका महत्त्व अनेक आंचलिक उपन्यासों के प्रकाशन के बाद भी बना हुआ है, क्योंकि आंचलिक होने भर से कोई उपन्यास इतना गहन, मानवीय, वाह्य घटनाचक्र के भीतर अन्तःसंवेदनमय नहीं हो

---

1. डॉ० बदरीप्रसाद : प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास, फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 107
2. डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र : यह पथ बन्धु था, एक अध्ययन, पृ० 19

जाता—जैसा 'मैला आंचल' है।'[1]

डॉ० नेमीचन्द जैन का तो कहना है—'बिना किसी प्रचार या विज्ञापन के ही 'मैला आंचल' हिन्दी के उस विस्तृत क्षेत्र में तत्क्षण प्रसिद्ध हो गया। शायद ही कोई पुस्तक इतनी शीघ्र ज्ञात होती है। मैंने उसे 'गोदान' के बाद दूसरा महान् उपन्यास माना है।'[2]

परती-परिकथा

यह रेणु का दूसरा महत्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है, जो सन् 1957 में प्रकाशित हुआ। 'मैला आंचल' की भांति इसमें भी आंचलिकता का सघन चित्रण है, किन्तु मेरीगंज की अपेक्षा यह गांव समृद्ध है। पूरा उपन्यास प्रारम्भ से अन्त तक स्वातन्त्र्योत्तर कालीन ग्रामांचल पर आधारित है।

'परती-परिकथा' में किसानों के जीवन और उनकी नियति की महाकाव्यात्मक संवेदना की-सी गहराई और व्याप्ति में अंकित किया गया है। रेणु जी के समकालीन, तथा कथालेखन और चिंतन दोनों के लिये चर्चित निर्मल वर्मा जी के शब्दों में—"रेणु का स्थान यदि अपने पूर्ववर्ती और समकालीन आंचलिक कथाकारों से अलग और विशिष्ट है, तो वह इसमें है कि आंचलिक सिर्फ उनका परिवेश था। उसके भीतर बहती जीवनधारा स्वयं अपने अंचल की सीमाओं का अतिक्रमण करती थी। रेणु का महत्व आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखण्ड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तर भारत के किसान की नियति-रेखा को किया था।'[3]

रेणु ने किसी के अंचल में बसे पूर्णिया जिले के बहुत पुराने परानपुर गांव को उपन्यास-क्षेत्र के रूप में चुना है। इस गांव के तीन ओर स्थित परती की जीवंत और मार्मिक कथा कही है रेणु ने।—'धूसर' वीरान अन्तहीन प्रांतर! पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती···। धरती नहीं धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं बालूचरों की पक्तियां। उधर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो सम भागों में विभक्त करता हुआ फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी

---

1. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव : निरन्तर, जून 1975, पृ० 11
   सम्पादक : नरेशचन्द्र चतुर्वेदी।
2. नेमीचन्द जैन : आलोचना (अंक 15) : पृ० 105-106
3. निर्मल वर्मा : दिनमान, 31 अगस्त 1989, पृ०-77

हो जाती है।'[1] यह 'परती-परिकथा' के विशिष्ट भौगोलिक अंचल को भी दर्शाता है। सिर्फ परती जमीन ही नहीं, 'मन की परती ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई है। वीरान होती जा रही है।"[2]

जमीन की परती के साथ ग्रामवासियों की परम्परागत रूढ़ियों, अन्धविश्वास, अज्ञान, अशिक्षा से उत्पन्न जड़ता मनोभूमि को भी परती बनाती जा रही है। इसके अलावा इस उपन्यास का भ्रष्ट राजनीति, स्वार्थ-मुकदमेबाजी, पारिवारिक सम्बन्धों में दरार और जातिवादी समस्यायें भी हैं। भूमि के पुनर्विभाजन के समय भाई-भाई, मां-बाप और पुत्रों के सम्बन्ध तक सामान्य नहीं रह जाते। परती भूमि की दरारों की भांति सामाजिक-पारिवारिक मानवीय सम्बन्धों में भी दरारें पड़ जाती हैं। सम्बन्धों के दरकने की इस स्थिति का ही परिणाम है कि—

'छः महीने में ही गांव का बच्चा-बच्चा पक्की गवाही देना सीख गया है···छः महीने में ही गांव एकदम बदल गया है। बाप-बेटे में, भाई-भाई में अपने हक को लेकर ऐसी लड़ाई कभी नहीं हुई।'[3]

परिवार का एक प्राणी दूसरे को निगलने की तैयारी कर रहा है। लड़के ने अरजी दी है—'विधवा मां परिवार को नेहतनाबूद करने पर तुली हुई है। पारिवारिक सम्पत्ति बरबाद कर रही है। माननीय जज साहब तुरत इंजेक्शन की कार्रवाई को मंजूर करें।'[4]

इस सबसे प्रभावित होकर गांव के उत्सव-पर्व पर होने वाला हर्षोल्लास और आमोद-प्रमोद सब फीके पड़ गये—'पिछले डेढ़ साल से गांव में न कोई पर्व ही धूमधाम से मनाया गया है और न किसी त्यौहार में बाजे ही बजे हैं।···लड़के-लड़कियों के ब्याह रुके हुए पड़े हैं···गीत के नाम पर किसी के पास एक शब्द भी नहीं रह गया है मानो।[5] लेकिन उपन्यास के अन्त तक परती जमीन टूटने से ग्रामवासियों और परिवार वालों के सम्बन्ध पुनः आत्मीय हो जाते हैं, तथा उन भूमिहीनों को, जो जमींदारी उन्मूलन के समय भी जमीन नहीं प्राप्त कर सके थे, भूमि-लाभ होता है। कहा जा सकता है कि परती (भूमि) की परिकथा को ऐसा आदर्शोन्मुख मोड़ देकर, उपन्यासकार अपने अभीष्ट को पाकर, परती जमीन की आधुनिक वैज्ञानिक तरीके से जोतने के साथ ही ग्रामवासियों की मरुभूमि की परतों को भी तोड़ने में सफल होता है। स्वयं रेणु जी के शब्दों में—

'रिहर्सल से लौटते समय मन में पवित्र प्रभाती फूट रही थी। सबके मन की

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० 9
2. वही, पृ० 498
3. वही, पृ० 25
4. वही, पृ० 281
5. वही, पृ० 27

परती टूट गई।'[1]...

माघ कब गया, फागुन किस छिन आया, परानपुर गांव को नहीं मालूम ! कोयल की मधु लिपटी बोली सुनकर एक-एक प्राणी ने अपने मन के मधु-कोष में देखा—टटके मधु का एक बूंद संचित हो गया है।—'सेमलवनी के आकाश में अबीर-गुलाल उड़ रहा है। आसन्न प्रसवा परती हंसकर करवट लेती है।'[2]

कथा के विकास की गति 'परती-परिकथा' में भी अत्यन्त धीमी परन्तु संयोजित है। परानपुर अंचल के समग्र यथार्थ का चित्रण होने पर भी कथा-सूत्रों में उतना बिखराव नहीं, जबकि इसमें अनेकानेक कथायें हैं।—कोसी मैया की पौराणिक कथा, मकबूल और कुबेर सिंह की कथा, दंता रावल की कथा, डूबी रानी की कथा, कोहबर रांडी की कथा, सुन्नरि नेका की कथा, जितेन्द्र ताजमनी की प्रेमकथा, प्रेमकुमार दीवाना की प्रेमकथा, दिल बहादुर और कांदी मायर की प्रेमकथा, सुरेश मलारी की प्रेमकथा, लैण्ड सर्वे-सेटलमेंट, कोसी बांध योजना, पंचायत, मुकद्दमाबाजी, राजनीतिक पार्टियां, लोकगीत, लोकनृत्य, लोक-पर्व जैसे चक्कर परती और शाम चकेवा आदि के यथार्थ चित्रण से परानपुर अंचल का व्यक्तित्व साकार हुआ है। 'परती-परिकथा' में यह कथात्मक एकसूत्रता और रोचकता महेन्द्र चतुर्वेदी भी महसूस करते हैं—'परती-परिकथा' में कथा-रस वैसा क्षीण नहीं, जैसा 'मैला आंचल' में। क्रमबद्धता का भी वैसा अभाव नहीं, जैसा पहले कहा गया है। क्रमबद्ध कथा कई डालना मात्र लेखक का उद्देश्य भी नहीं। हमारे सामने गांवों की वास्तविकता को उभारना चाहता है और इसलिए उसने अनेक शब्द-चित्रों के अंकन में अपने उद्देश्य की पूर्ति की है। कथा-संयोजन के बीच की कड़ियों को उसने पाठक के लिए छोड़ दिया है।'[3]

'परती-परिकथा' में पात्रों की संख्या अधिक है, परन्तु फिर भी कथा-विस्तार को देखते हुए 'मैला आंचल' की तुलना में कम पात्र हैं। किसी-न-किसी रूप में सभी पात्रों की चारित्रिक विशेषतायें परानपुर अंचल का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। नायक-विहीन कथा, जो कि कुछ परिवेशमूलक आंचलिक उपन्यासों की विशेषता है, 'परती-परिकथा' में नहीं मिलती। जितेन्द्र को इस उपन्यास का नायक कहा जा सकता है। पूर्णरूप से विकसित जितेन्द्र का चरित्र 'परती-परिकथा' में मुख्य रूप से उभरता है। 'सारांश में, जितेन्द्र के बचपन के संस्कारों से लेकर उनकी शिक्षा-दीक्षा, राजनीति-प्रवेश के उपेक्षामय हठ, राजनीति के कटु अनुभवों से सीखकर मानवीय मार्ग के अवलम्बन और आगे ग्रामोद्धार के लिए संघर्षों, प्रयत्नों तक का पूरा चित्रण कर लेखक ने एक पूर्ण चरित्र का निर्माण किया है।'[4] फिर भी परती-प्रेमी जितेन्द्र का चरित्र-चित्रण लेखक का मुख्य उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है, परती की कथा कहना और जितेन्द्र का चरित्र परती से जुड़ा हुआ है। यह

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु : परती-परिकथा, पृ० 333
2. वही, पृ० 336
3. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 212
4. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों का शिल्प-विधि, पृ० 284

तो रेणु का कला-कौशल है कि वो परिवेश और आदमी के बीच ऐसा तादात्म्य रचते हैं कि ये एक-दूसरे से जुड़े ही नहीं, बल्कि गुंथे प्रतीत होने लगते हैं। उनमें ऐसी रचनात्मक क्षमता है—'रेणु के पात्रों में वर्गीय तथा व्यक्तिगत विशेषताओं का अद्भुत समन्वय हुआ है, जिससे अंचल-चित्रण के उद्देश्य-साधन के साथ ये अपनी व्यक्तिगत सजीवता से भी पाठकों को प्रभावित कर सके हैं।'[1]

हर परिस्थिति में जितेन्द्र का साथ देने वाली ताजमनी पढ़े-लिखे पागल समझे जाने वाले पिम्पल मामा, डॉक्टरेट की तैयारी के लिए कहानियां बटोरने वाला सुरपतिराय, महाराजा का खिताब हासिल करने की अपूर्ण मनोकामना लेकर मरने वाले शिवेन्द्र मिश्र, उनकी अंग्रेज पत्नी मिसेज रोजवुड (धर्म-परिवर्तन के पश्चात् गीता मिश्र) हवा का रुख देखकर बातें करने वाला कण्टाहा ब्राह्मण गरुड़धुन झा, गांव का सबसे बड़ा महाजन रोशन विस्वां, घरघुसनी सामवती, राजनीतिक लंगीबाज लुत्तो, जवान कोतवाल के प्रेम में पड़कर कोतवाल से ही धोखा खाकर दुलारी बाग कुण्ड में डूब मरने वाली रानी डूबी, सत से बेसत होकर कोहबर, यानी वासर-घर में ही रांड हो जाने वाली कोहबर रांड़ी के अलावा गुन्मन्ती, रघ्घू रामायनी, दिलबहादुर, कांछीमाया, मुंशी जलधारीलाल, निरसू ममता, कामरेड, मकबूल, रामपखारन सिंह, डॉ० राय चौधरी, इरावती आदि अनेक पात्र अपनी-अपनी निजताओं में चित्रित हुए हैं।

परानपुर अंचल की संवेदना, अनुभूतियों, संस्कारों और निजता का सजीव चित्रण करने के लिए रेणु ने परावपुर अंचल की बोली के शब्दों का संस्कार करके अपनी, यानी उपन्यासकार की, भाषा के साथ सामंजस्य बिठाया है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही कोसी नदी का रूपात्मक चित्रण क्षेत्र और मानव, दोनों को संवेदित करता है। दृश्य-चित्रण का ऐसा सफल आयोजन दुर्लभ है। 'परती-परिकथा' की भाषा साहित्यिक दृष्टि से और उपन्यास की वस्तु को देखते हुए सफल कही जा सकती है। भाषा जीवंत और लोकरस से परिपूर्ण है, लेकिन उन पर यह आरोप भी आया है कि वो अपनी ओर से अनेक शब्दों को तोड़-मरोड़कर, नये शब्द गढ़ते हैं।

'रेणु संतुलन बनाये रखने में समर्थ नहीं हुए हैं। सर्जनात्मक अनिवार्यता से निकलकर वे चमत्कार की कोटि तक पहुंच गये हैं। इसीलिए वे शब्दों को वहां की बोली के अनुकरण पर अपनी ओर से भी तोड़ते नजर आते हैं, जिन्हें वे आसानी से बिना किसी सर्जनात्मक क्षति के बचा सकते थे।'[2]

लेकिन डॉ० धनंजय वर्मा 'रेणु' की भाषा को गद्य-भाषा का परिष्कार मानते हुए, उसे भाषा-शक्ति का विस्तार मानते हैं—'भाषा में जो एक अकृत्रिमता है—फिर भी वह असाहित्यिक नहीं। सर्वत्र भाषा का सौष्ठव है और उसकी परिनिष्ठा से स्खलित वह नहीं हुई है। गद्य की भाषा का यह परिष्कार है—उसकी शक्ति का यह विस्तार है।

1. डॉ० सत्यपाल चुघ : 'प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि' पृ० 595
2. डॉ० रामदरश : 'आधुनिक परिवेश और नवलेखन' पृ० 122

जनभाषा के प्रयोग में यह प्रेमचन्द से आगे का चरण है।'[1]

विभिन्न ध्वनियों, आवाजों को शब्दों में उतारना रेणु की एक खास विशेषता है। 'मैला आंचल' की ही तरह 'परती-परिकथा' में भी यत्र-तत्र इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

ट्रैक्टर की आवाज 'भ-ट-ट-ट-भड़-भड़-भड़भड़-भर्र-र-र'···पक्षियों के चहचहाने की आवाज—'कैंक्-कैंक्-कैं-एं-एं-गां-वां-कैंक् ।' कुत्ते की आवाज—'आंख-बांख, बांख' इत्यादि।

स्थानीय पुट वाले शब्दों का भी खूब प्रयोग हुआ है—सुडावाटर, मेरस्त, ओनियन, फरमैश, सुघनी, बैकाट, डगडिन, कोसचेन, मुंहामुंही, पनपियाई, एसपेसल, नाम-निशान, लेनकिलियर, लौजवान, टिकस, गाटबाबू, पुरैनिया सहर, राकश, लारायण, कटहा घात, कारन, परतीत, बेर-बखत।

लोक-कहावतें भी खूब प्रयुक्त हुई हैं—'लड्डू लड़े तो बुंदिया झरे', 'पहले भीतर, तब देवता-पित्तर', 'जो हाथ, सो साथ', 'जब तक जावे पेट भात', 'कर-कर, कट-कट बांस', 'क वानि, धरती लोटाय जो बुतरू कानि', 'कहे घाघ सब कारज फूसि···' 'छौंड़ी सिखावे बुढ़िया को खेल', 'देखो भाई समय का खेल', 'गाछ पर चढ़ो, गिरने के लिए', जमानत होओ, मरने के लिए', 'ऊन की बात दून' इत्यादि।

'परती-परिकथा' में यथाप्रसंग अनेक सुन्दर लोकगीत प्रयुक्त हुए हैं—

(1) करुणामय बरसाती लोकगीत—

'मचिया बैसली-एं-एं···मालिन की बेटी रे मोहनियां-यां-यां।
राम रे-ए-ए-ए, ओरमल लामी-लामी केशिया रे-काहे तो रे-ए···
भट-भट-भट-भट-भट-भट-भट-भट-भट-भट···
डाली भरी फूलवा-वा-वा-रे मोलिये गेल आंखियां-यां-यां
राम रे-ए, हेरि-हेरि केकर पन्थ रोक रे मोहनि-यां-यां!
मट-मट···'[2]

(2) सुन्नरि नैका के नाच पर आधारित लोकगीत—

'करिके सोलहो सिंगार
गये मोतिधन के हार
केशिया परती लौटाय
चुनरी मोती बरसाय
चुन्नी-पन्नां बरसाय
चुन्नी-पन्नां बिखराय-य, छम्म-छम्मां नाचे सुन्दरि नैका।
आंख मारे!···रे मेर्रा-आ-ह-दांत मारो-ओ!'[3]

---

1. डॉ० धनंजय वर्मा : 'परती-परिकथा : एक स्वतंत्र कलाकृति', 'आलोचना पूर्णांक—24, पृ० 84
2. फणीश्वरनाथ रेणु : परती-परिकथा, पृ० 45
3. वही, प० 128

'परती-परिकथा' में डायरी शैली, रिपोर्ताज शैली, वर्णन शैली तथा चित्रात्मक शैली की प्रमुखताएं। यह उद्धरण चित्रात्मक शैली के सौन्दर्य को दर्शाता है—

'विशाल परती पर डेढ़-डेढ़ सौ एकड़ की पांच परिधियों पर इस ब्रह्मपिशाच का राज्य था। प्रत्येक वर्ण शरद की चांदनी में यह इन पांचों चक्रों में अपना रुपया पसारकर सूखने देता था। असली चांदी के रुपये, सोने की मुहरें !···मानो, आषाढ़ की पहली वर्षा में दुलारीदास की सारी पीठी मछलियां धरती के बलुवाही पानी के लोभ में धरती पर छटपटा रही हों। चांदनी में चमकते हुए चांदी के रुपये !···छटपटाती हुई पोठा मछलियां। चितपट-चितपट, छटपट।'[1] ···दन्ता राकस और सुन्नरि नैका की सम्पूर्ण कथा चित्रात्मक शैली में है।

परानपुर की स्थानीय बोली तथा त्यौहारों-उत्सवों आदि अनेक प्रसंगों का अनावश्यक चित्रण हालांकि कई जगह इसके शिल्प-संगठन को कमजोर बनाता है और शिल्प-सम्बन्धी कमजोरी 'परती-परिकथा' में भी है, परन्तु 'मैला आंचल' की तरह सब-कुछ बिखरा हुआ नहीं है।

डॉ० जवाहर सिंह का मानना है कि 'रेणु' ने बिखराव सम्बन्धी इस कमजोरी को दूर करने की कोशिश 'परती-परिकथा' में की है। उनकी राय में, 'परती-परिकथा' को शिल्पित करने में रेणु 'मैला आंचल' की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं—'परती-परिकथा' की सभी कथाओं को परती अंचल से जोड़ने की कोशिश की है।"[2]—आगे डॉ० जवाहर सिंह अपेक्षा जरूर करते हैं—"परन्तु फिर भी आंचलिक उपन्यास की विशिष्ट संरचना का तकाजा है कि इसे परम्परागत औपन्यासिक शिल्प के निकष पर नहीं कसा जाय।'[3]

कुछ विद्वान 'परती-परिकथा' को 'मैला आंचल' से भी श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास मानते हैं। कारण, प्रशांत की अपेक्षा जितेन्द्र का अधिक विकसित चरित्र, कथात्मक सुसंगठन और उपन्यास के अन्त का आरोपित न होना है। परती-परिकथा के विस्तृत होने के बावजूद सुसंयोजित होने की खूब सराहना हुई है—

'परती-परिकथा' 'मैला आंचल' से श्रेष्ठ उपन्यास है; क्योंकि कथा-तत्व तथा नायकत्व की अवहेलना का यहां बहुत-कुछ परिहार हो गया है। रोमानी प्रकृति भी संयत हो गई है। इसलिए यहां क्षेत्र रूप ही व्यापक नहीं हुआ, बल्कि अन्य पक्ष भी अधिक उभरकर सामने आ सके हैं। नायक के संघर्ष की जीवंत दृढ़ता और चारित्रिक उदात्तता में यह उपन्यास और भी प्रोज्ज्वल हो गया है। 'मैला आंचल' के आरोपित अंत की तुलना में 'परती-परिकथा' का अन्त भी अधिक संतुलित है और स्थानिकता के साथ-साथ व्यापकता की व्यंजना भी अपेक्षा से अधिक हुई है। 'परती-परिकथा' महाकाव्यात्मक

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु : परती परिकथा, पृ० 22
2. डॉ० जवाहरसिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 295
3. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 602

प्रभावों को स्पर्श करता है ।'[1]

परती-परिकथा में लोकतत्वों का समुच्चय देखते ही बनता है। लोकगीतों, लोकोक्तियों को तो जैसे इसमें मोतियों की भांति बांधकर गूंथा गया है। इसके लोकतत्वों की सराहना करते हुए डॉ० धनंजय वर्मा कहते हैं—'परिकथा आंचलिकता और लोकरंग को लेकर चली है। इस ओर उसकी सफलता भी अप्रतिम है। लोक-साहित्य के बिभिन्न उपादानों-लोकगीत, लोककथायें, लोक पहेलियां और लोक-कहावतों से 'परिकथा' भरी पड़ी है। लोकगीतों की आधी-पूरी कड़ी पूरे उपन्यास में प्राण-संचार कर जाती है।··· अब तक के उपन्यासों (आंचलिक) में 'परिकथा' सर्वश्रेष्ठ मानी जायेगी ।'[2]

यह पथ बन्धु था

श्री नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' 'सूत्रपथ', 'पूर्व पथ', 'उत्तर पथ' और 'शेष पथ' इन चार शीर्षकों में विभक्त बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के सामाजिक जीवन मूल्यों एवं मान्यताओं पर आधारित दीर्घकाय उपन्यास है। उपन्यास का क्षेत्र मालवा का एक कस्बा है, जहां बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में रेललाइन का आना कस्बे के लिए एक आश्चर्य-जनक घटना थी। इतिहास की पुस्तक पर श्रीधर बाबू को श्रीमंत सरकार द्वारा भेजा गया प्रशंसा-पत्र दूसरी आश्चर्यजनक घटना थी। लेखक का उद्देश्य किसी ऐसे सामान्य व्यक्ति की कथा कहना है, जो कि इतिहास में नामोल्लेख योग्य भी नहीं है, सिर्फ भीड़ का एक हिस्सा-भर है, परन्तु मानवता से ओत-प्रोत है। ऐसे ही एक सामान्य पात्र श्रीधर की सात वर्ष की बाल्यावस्था से पचास वर्ष के प्रौढ़ हो जाने तक की कथा इस उपन्यास में है।

बचपन में इन्दु दीदी का श्रीधर के व्यक्तित्व पर अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा। इन्दु दीदी के सान्निध्य में श्रीधर को 'वीर अभिमन्यु', 'हेमलेट' (शेक्सपीयर) 'वाल्मीकि रामायण' इत्यादि रचनाएं पढ़ने का अवसर मिला। नन्हें श्रीधर के भविष्य की कितनी चिन्ता और उससे कितना प्रेम उसकी इन्दु दीदी को है, इसकी झलक निम्नलिखित उद्धरण में मिलती है—

'क्या इन्हीं बड़े होते हुए आज के नन्हें पैरों से जीवन के मार्ग पर चलेगा ? पता नहीं क्या-क्या देखे ? और उस एकान्त को दुख-बेला में कौन होगा इसके साथ ? कौन इस श्रीधर को संभालेगा ? यह स्वयं तो जैसा है, यह श्रीधर की मां से अधिक इन्दु जानती है।···आज तो कहीं कोई नहीं है। अन्तर के किसी कोने में सिवाय इस छोटे भाई

---

1. डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि, पृ० 602
2. डॉ० धनंजय वर्मा : परती-परिकथा, : एक स्वतंत्र कलाकृति, आलोचना—पूर्णांक 24, पृ० 48

श्रीधर के।'[1]

परन्तु इन्दु का विवाह होने पर वह अकेलेपन से घिर जाता है—'आज यह सच ही पहली बार अपने को हमेशा के लिए अनाथ अनुभव करने लगा···और वह पागलपन में कुछ दूर रेल की पटरियों के सहारे दौड़ा भी था। इन्हीं पटरियों की सीध में वह अपनी दीदी को पा सकता है।'[2] और इसके पश्चात् धीरे-धीरे वे उदासीन, चुप्पा और गम्भीर होते चले गये। कुछ समय बाद उन्हें पता चलता है कि इन्दु दीदी विधवा हो गई। श्रीधर बाबू का विवाह होता है। दो पुत्रियों गुनी और सुशीला और पुत्र देवव्रत का जन्म होता है।

निष्ठावान वैष्णव ब्राह्मण कुल में जन्मे श्रीधर बाबू मालवा के मिडिल स्कूल में हिन्दी, इतिहास, भूगोल के अध्यापक हैं। श्रीधर बाबू ने—'राज्य का गौरवमय इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी, जिस पर श्रीमंत सरकार ने एक प्रशंसा-पत्र भेजा, लेकिन बाद में शिक्षा विभाग की ओर से पत्र आता है कि—'श्रीधर बाबू ने अपने इतिहास में श्रीमन्त सरकार तथा उनके पुण्य स्मरणीय पितामहों का बारम्बार उल्लेख करते हुए राजकीय सम्बोधनों एवं पद्वियों का प्रयोग नहीं किया। इस कारण राज्य में बड़ा असन्तोष फैल गया है। लेखक इस भूल को तत्काल सुधारने तथा एक क्षमा-पत्र श्रीमन्त की सेवा में विभाग के मार्फत लिखकर अविलम्ब भेजें।'[3]

श्रीधर बाबू क्षमा मांगने और इस भूल को सुधारने से स्पष्ट मना कर देते हैं। फिर वह कांग्रेस से प्रभावित होते हैं और इसमें परिवार और नौकरी को बाधा पाते हैं। अपने मित्र नारायण बाबू से कहते हैं—'सब बातों की सीमा होती है। निश्चय ही इन बाधाओं की भी सीमा होगी ही और हमें किसी-न-किसी प्रकार उस सीमा तक चलकर पहुंचना ही होगा, यदि हम कुछ करना चाहते हैं। जीवन तो महाप्रस्थान का पथ है। जहां के हिम में प्रत्येक सम्बन्ध जो कि बाधा होता है, गल जाता है।···सब कुछ हम ही सोचकर व्यवस्थित कर ले जाएंगे, इस बुद्धिवादी स्वांग की क्या आवश्यकता है? कम-से-कम मुझे तो नहीं ही है।'[4] और सचमुच श्रीधर बाबू परिवार को सोता हुआ छोड़कर, अपने दोनों पांवों पर, विवेकानन्द की भांति, परिक्रमा पर निकल जाते हैं।

श्रीधर बाबू मालवा से चालीस मील पैदल चलकर उज्जैन पहुंचते हैं, लेकिन पहचान लिये जाने के भय से इन्दौर जाते हैं। वहां ट्रेन से उतरकर सुराजियों के जुलूस में शामिल हो जाते हैं। दूसरे दिन सुराजियों के नेता पुस्तके साहब के घर जूनी इन्दौर पहुंचे। उन्हीं के कहने से वे प्रजागण के सदस्य क्रांतिकारी बिशन बाबू से मिलते हैं। नेताओं की भांति पुस्तके साहब भी शोषक प्रवृति के हैं। बिशन बाबू के निम्न कथन में पुस्तके साहब का चरित्र स्पष्ट होता है—'अंग्रेज के शोषण को तो शोषण कहकर सब

---

1. श्री नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 138
2. वही, पृ० 148
3. वही, पृ० 39
5. वही, पृ० 42

उसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। लेकिन पुस्तके साहब-जैसे लोगों के शोषण को आप त्याग, तपस्या, देशसेवक आदि कहने के लिए बाध्य हैं।"[1]

इन्दौर में ही श्रीधर बाबू का परिचय रचना से होता है। रचना भी क्रांतिकारिणी है। सत्याग्रह-जुलूस में भाग लेने और कमल, बिशन बाबू के साथ रहने से इन दोनों के साथ श्रीधर बाबू के नाम भी वारंट निकलता है। रचना और श्रीधर बाबू, दोनों एक-दूसरे के प्रति खिचाव महसूस करते हैं, यद्यपि प्रेम-प्रदर्शन का उन्हें अवसर नहीं मिल पाता। आखिरी बार जिस समय रत्ना को फांसी की सजा सुनाई गई, उस समय 'रत्ना ने कैसी जल-भरी उदास मोहक आखों से उनकी ओर देखा था। श्रीधर बाबू भीग उठे। रत्ना सचमुच उनके अन्तर में प्रविष्ट हो चुकी थी।'[2]

श्रीधर बाबू को जब पता चला कि नारायण बाबू किसी के साथ उन्हें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते पुस्तके साहब के घर गये थे, तो उन्होंने, निर्णय लिया कि"'नहीं, अब किसी से नहीं मिला जाएगा।"[3] और उसी क्षण वे इन्दौर छोड़कर महू के लिए चल पड़ते हैं, क्योंकि बिना पुरुषार्थ किये वे मालवा नहीं लौटना चाहते। लेकिन उन्हें, बिशन बाबू के साथ, वापस इन्दौर आना पड़ता है और फिर यहां रहना उन्हें खतरे से खाली नहीं लगता। वह बनारस चले जाते हैं। वहां नेताओं के भाषण तैयार करते, प्रूफ-रीडिंग, अनुवाद आदि का काम करते हुए उन्हें लगता है कि क्या यही सब करने के लिए उन्होंने अपना घर-परिवार छोड़ा।

उन दिनों स्वतंत्रता-आन्दोलन जोरों पर था। श्रीधर बाबू रत्ना-द्वारा दिये गये बम को रामनगर ले जाते समय पकड़े जाते हैं और दस वर्षों के लिए जेल भेज दिये जाते हैं। जेल से छूटने पर 'हिन्दी हितकारिणी' के सहायक सम्पादक का कार्यभार संभालते हैं। 'शंखनाद' की योजना बनाते हैं, 'शंखनाद' छपने पर उसकी प्रतियां अपने घर तथा मित्रों को भेजते हैं। पचास वर्ष की अवस्था में अचानक श्रीधर बाबू की बनारस में बाबा विश्वनाथजी के मन्दिर में इन्दु दीदी से भेंट होती है। वह उन्हें वापस घर लौट जाने को कहती हैं। घर के प्रति जिम्मेदारी का दायित्व न निभा पाने के कारण वे निरन्तर पश्चाताप और ग्लानि महसूस करते हैं। इन पचीस वर्षों में वे मां-बाप, बच्चों, इन्दु दीदी की याद से सदा घिरे रहे। श्रीधर बाबू ने पहले तो कुछ ही दिन के लिए घर छोड़ा था, परन्तु 'ये जितना घर लौटना चाहने लगे, जल उतना ही गहराई की ओर आगे खींचता रहा।'''अनियमितता के कारण आये दिन तबीयत खराब रहने लगी।'[4]

श्रीधर बाबू को एहसास होता है कि सारा जीवन उनका निरर्थक ही बीत गया। न तो वे घर की देखभाल ही कर सके और न कोई खास उपलब्धि ही हासिल कर सके। राजनीति भी उनसे नहीं सधी। वह हताश हो जाते हैं—'अनिर्णय, जेल और प्रयोग

---

1. श्रीनरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 216
2. वही, पृ० 210
3. वही, पृ० 307
4. वही, पृ० 496

इसी में सारा जीवन खो दिया।'[1] और दो सौ पृष्ठों का अनुवाद करने पर, जब उन्हें सिर्फ पचास रुपये मिले, तो वे पूरी तरह टूट गये और उन्होंने निर्णय लिया कि घर लौट जाएंगे और इस तरह पचास वर्षों बाद श्रीधर बाबू—'अपना सम्पूर्ण जीवन, स्वास्थ्य, कर्मठता, काशी के वृद्ध, बीमार, असफल, निरावलम्बित बने मालवा की ओर लौट रहे थे।'[2]

इधर मालवा में श्रीधर बाबू के परिवार की हालत दिन-ब-दिन बदतर होती गई। घर का बंटवारा हो जाता है और श्रीधर के परिवार का भार उनके वृद्ध माता-पिता पर आ जाता है। जैसे-तैसे परिवार को पलते हुए वे गुनी का ब्याह धूमधाम से करते हैं, परन्तु श्रीमोहन की पत्नी और ससुराल वालों का लालची स्वभाव गुनी को सुख से नहीं रहने देता। लालच में गुनी के ससुराल वाले गुनी को बहुत सताते हैं और जो गुनी श्रीधर को प्यारी थी, उसकी दशा यह है—'जिस गुनी को सोने से लादकर, डोली पर लक्ष्मी रूपी बनाकर उसकी ससुराल भेजा था, आज वह अपने घर परित्यक्ता दोनों पैरों से लंगड़ी बनी देह पर मार के अनगिनत निशान लिए अर्द्धविक्षिप्त सी लौटकर जा रही थी।'[3]

श्रीधर बाबू की पत्नी सरो सहनशीलता एवं त्याग की प्रतिमूर्ति है। वह शाम तक मौन रहकर घर के काम-काज करती है। वह भी एक इंसान है, जिसका अपना व्यक्तित्व है, यह उसे महसूस ही नहीं हो पाता। श्रीधर के जाने से उसकी जेठानी के अत्याचार बढ़ते ही चले गये—'सरो, जेठानी को देखती तो कांप उठती, जैसे बिल्ली देख ली हो। एक रोटी खाकर ही उठ जाती। आंतें सहस्रमुखी होकर, उस समय खाना मांग रही होती कि उन्हें पानी के एक लोटे से परितृप्त कर दिया जाता।''[4]

सरो को हड्डियों के बुखार के साथ-साथ क्षय रोग भी हो जाता है। पुत्र देवव्रत पढ़ाई-लिखाई छोड़कर आवारा बनता जा रहा है। सुशीला के बाद सरो उसे अपने मायके भेज देती है। श्रीधर बाबू के माता-पिता की मृत्यु हो जाती है।

इस उपन्यास के पात्रों की यह विशेषता है कि उनमें बड़े-से-बड़े दुख को मौन भाव से सहन करने का सामर्थ्य है। इस सन्दर्भ में गुनी के कथन को उद्धृत किया जा सकता है—'केवल सहना ही सत्य है। बिना सहे तो कोई गति नहीं है। अपने प्रति भी निर्दय होना पड़ता है, जिजी! हम सब रहे हैं। बापू, मां, तुम, मैं, बाबा, सभी तो अपने-अपने ढंग से सह रहे हैं। दुःख किस बात का ?···बोलने से व्यक्ति कमजोर बनता है।···दुख वाणीहीन होता है। हमें कष्ट नहीं, तकलीफ नहीं है कि लोग उन्हें बंटा दें। दुख वह परमपदहै, जिजी! जिसे स्वतः भोगना होता है। सब व्यर्थ है यहां।'[5]

घर पहुंचने पर सिर्फ अपंग गुनी और असमय की वृद्ध व क्षयग्रस्त पत्नी सरो से

---

1. श्री नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 561
2. वही, पृ० 567
3. वही, पृ० 469
4. वही, पृ० 327
5. वही, पृ० 488

ही श्रीधर बाबू की भेंट होती है। सरो जैसे उन्हीं को बाट जोहते हुए किसी तरह अब तक प्राण धारण किये हुए थी। उनके आने के कुछ समय बाद सरो की मृत्यु हो जाती है। गुनी को वे सरो के मायके भेज देते हैं। जो घर कभी भरा-पूरा था, उसमें वे एकदम अकेले पड़ जाते हैं। इन्दु दीदी द्वारा दिये गये कागज पर वे 'मानवता का इतिहास' लिखने लगते हैं।

'यह पथ बन्धु था' में क्रिया शब्दों को एक खास ढंग से प्रयुक्त किया गया है। जैसे—प्रवेशा, स्मरणता, आत्या, विश्वासे, विश्वास सकें, प्रवेशी, निवेशी, प्रवेशना, विश्वासना, प्रवेशित इत्यादि। परन्तु ये प्रयोग कहीं-कहीं खटकते हैं। सुप्रसिद्ध उपन्यास-कार गिरिराज किशोर इस उपन्यास की आशंसा तो करते हैं, परन्तु भाषा की कुछ त्रुटियों की ओर भी वे संकेत करते हैं—'कहीं-कहीं 'यह पथ बन्धु था' में किये गये प्रयोग अश्लील लगने लगते हैं, जैसे—लक्ष्मण ने प्रवेशा।' यदि लछमन केवल प्रवेशा होता, तो शायद, प्रयोग अधिक खरा बन गया होता। इसी प्रकार 'सरोमुख' का प्रयोग गोमुख का-सा आभास देने लगता है। सरोमुख, पासमुख, दीदी मुख ये सब कहीं-न-कहीं हास्यास्पद मालूम पड़ते हैं। सरोमुख की सिसकियों से लगता है कि सरोमुख सरो से कुछ अलग वस्तु है।'[1]

नरेशजी की भाषा के कुछ विशिष्ट अन्दाज भी द्रष्टव्य हैं—'आधार आलोक की झलफलिया में, नदी में भोर की मद्धिम प्रतिच्छाया गिर रही थी।' 'ठंडा कथार मालवा वायरा चल रहा था। कभी हममें इतना सौन्दर्य क्यों नहीं साजता।' वे आंखें चमकीं, उपरान्त हौले से कचनार के फूलों-सी फैल गई।' 'अनश्रीधरीय ढंग से' इत्यादि। उपन्यास में जल में रहकर मगर से बैर, अल्ला की गाय, जहां सींग समाये, वहीं जायें, विषका बुझा हुआ, चूहे को बिंदी क्या मिली बजाज बनने चला, तीन-तेरह की नौबत-गुड़ खायेंगे' गुलगुले से परहेज करेंगे, पेट में दाढ़ी, दिल जले, तिल ओट पहाड़ की ओट इत्यादि मुहावरों के अतिरिक्त उपमाओं का प्रयोग मिलता है। कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

'जैसे गंदे तीर्थ में पुण्य कहीं छिपा हुआ रहता है।'

'आज वही सम्पत्ति कौरवों के बीच द्रौपदी, अवश्य लगी रही थी।'

'वेश्या का मन कीड़ा खाये ऊनी कपड़े की तरह होता है।'

'श्रीधर बाबू ने आज पहली बार बिशन बाबू को क्रोध में फुंकते देखा। सुंती देह थरथरा रही थी, जैसे क्रोध में निकली तलवार हो।' 'बिना काजल अंजी आंख-सा सन्ध्याकाल और उसमें आंसू-सी टिकी सन्ध्या थी।' 'बिना किनारे की : सादी धोती में वह भोर के गोरे होते हुए आकाश-सी लग रही थी।'

बिम्ब—"रात भीग रही थी। जाड़ा बढ़ता जा रहा था। चने का कागज गुड़मुड़ी मौन पड़ा था। वह स्त्री वहां दूध पर बैठी हुई थी। जैसे बहुत-कुछ सोच रही हो और

---

1. गिरिराज किशोर : 'यह पथ बन्धु था है' : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 166

किसी की प्रतीक्षा कर रही हो। उसने अपनी शाल कन्धों से गिरा दी तथा कान और गले के आभूषण भी निकालकर वहीं दूध पर रख दिये और सहसा प्रत्यंचवत उठी तथा एक बार फिर शून्य में खिच उठी। अपने दोनों हाथों की अंगुलियां गूंथकर, अपने ओठों पर कसकर सटा लीं और फूट उठी । मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ कुछ भी समझ नहीं पा रहा था। जैसे उसके अन्तर से कुछ फूट निकलना चाह रहा था । पसलियों में जैसे हरिणी के बाण चुभ गया हो। उसके पैर जैसे बंध गये थे। फिर भी न जाने किस साहस के लिए अपने से जूझ रही थी। सहसा वह टैंक के अथाह जल की ओर झपटी। जाड़े से ठिठुरा मेरा मन तथा दिमाग हठात् तो कुछ नहीं समझ सका कि यह क्या हो रहा है, लेकिन तब तक वह टैंक की तरफ बेतहाशा दौड़ती जा रही थी तथा पानी में धंसती जा रही थी। और··· और मैं बिना कुछ सोचे-समझे उसी तरफ दौड़ा। पानी एकदम ठण्डा कथार था। अपने पीछे किसी को आते देख वह पानी में धंस गयी।'[1]

इस उपन्यास की शैली कहीं विभ्रात्मक, कहीं चित्रात्मक, कहीं वर्णनात्मक है, तो कहीं प्रतीकात्मक और चूंकि नरेशजी कवि भी है, तो इसलिए काव्यात्मक शैली का प्रयोग भी उपन्यास में है। श्रीधर के घर छोड़ने के बाद सरो की बीमारी, श्रीनाथ ठाकुर और उनकी पत्नी की वृद्धावस्था, देवव्रत की आवारागर्दी, गुनी की शारीरिक अपंगता तथा आर्थिक रूप से टूटी हुई पारिवारिक स्थिति में श्रीधर के बड़े भाई श्रीमोहन का मकान तथा जमापूंजी में अपने तथा छोटे भाई श्रीवल्लभ के लिए हिस्सा मांगने के लिए आना स्वयं श्रीमोहन के लिए कितना असह्य हो जाता है, इस माहौल को लेखक ने प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त किया है—'श्रीमोहन ने देखा कि वह जैसे किसी अंधेरे भुतहे मन्दिर में जहां पत्थर की मूर्तियां जड़ बनी बैठी हुई हैं, चल रही हैं, डोल रही हैं, अगर यह यहां से भाग नहीं जाते तो कोई मूर्ति उनका गला दबा देगी।"[2]

प्रकृति-वर्णन में चित्रात्मक शैली के दर्शन होते हैं—'नदी का जल छोटी-छोटी उर्मियों में टूट-टूटकर बह रहा था, बांध के दूसरी तरफ पानी था। उसी तरफ पेड़ों का झुरमुट काफी गझिन था। वहां जल में बहाव नहीं, बल्कि ठहराव था। पेड़ों की तिरस्क-रिणी में चांदनी, जाल-सी बिछी थी। हल्का कुहरा नदी पर रेंग रहा था। बांध की तरफ दोनों ओर पारसियों की छोटी-छोटी कॉटेज बनी हुई थीं, जो कि इस समय बंद आंखों की तरह चुप, चांदनी में खड़ी थी। बांध के दूसरी तरफ चांदनी, सलवटहीन चादर की भांति फैली हुई थी। बांध पर जो एकमात्र घाट बना था, वह अपनी बुर्जियों तथा सीढ़ियों में चित्र लग रहा था।'[3]

निम्न उद्धरण में चन्द्रोदय के चित्रण में वर्णनात्मक शैली में उस 'वैष्णवी गंध' की झलक मिलती है, जिसका नरेशजी की चेतना से गहरा नाता है।

'आकाश में बड़े विशेष रूप से, नीली मलमल के पर्दों के पीछे चन्द्रोदय की

---

1. श्री नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 485
2. वही,
3. वही, पृ० 215

तैयारी सम्पूर्ण लग रही है, जैसे वैष्णव मन्दिर में ठाकुरजी का शृंगार सम्पूर्ण लग रहा हो और अब पट खुलने ही वाले हों—और तभी बिना 'टिकोर' की आवाज के मुखिया जी ने पट खोले। न 'बोल गिरिराज धरन की जय' ही हुई और न कीर्तन। केवल अत्यन्त शान्त एवं भव्य तरीके पर भगवान मन्दिर के अंधेरे में विराजित दिखे। वैष्णव मन्दिरों की तरह का आकाश और श्रीनाथजी की मूर्ति की तरह चन्द्रमा-दिशायें आलोकित हो उठीं। आकाश में जैसे वैष्णवी 'चित्रसेवा' हो रही हो। कुहरे में चन्द्रमायनी भीगी-गीली-नील मलमल लग रही थी।'[1]

इस उपन्यास में कथा के सारे सूत्र कहीं-न-कहीं चूंकि श्रीधर से जुड़ते हैं और उपन्यास अंचलकेन्द्रित न होकर व्यक्ति-केन्द्रित है, इसलिए विशद होने पर भी शिल्प में आंचलिक उपन्यासों का-सा बिखराव नहीं है।

'यह पथ बन्धु था' को सामान्य अर्थों में आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसमें आंचलिकता का वैसा व्यापक और गहरा चित्रण नहीं है, जो कि एक आंचलिक उपन्यास के लिए अपेक्षित होता है। इसमें मालवा के एक वैष्णव परिवार की कथा ही, नरेशजी का मन्तव्य एक सामान्य मानव श्रीधर की कथा कहना था। नरेशजी ने इस उपन्यास में मालवा अंचल की विशिष्टताओं को भी सामान्य बनाकर उसे सार्वदेशिक बना दिया है। उन्होंने कहा भी है—'परिपार्श्व आंचलिक है, किन्तु शील-निरूपण में सार्वजनीयता रखी गयी है। किसी अंचल-विशेष की कथा कहना मेरा प्रतिपाद्य नहीं रहा है, बल्कि उस काल के मानव को प्रतीक-रूप में प्रस्तुत करना ही प्रयास था।'[2]

किन्तु 'परिपार्श्व' को 'आंचलिक' मानना भी कहीं-न-कहीं उपन्यास को अंचल-विशेष से जोड़ना ही माना जाएगा। इस तर्क से कहा जा सकेगा कि यह 'पथ बन्धु था' हिन्दी के उन विशिष्ट उपन्यासों में है, जो अपने रचना-विधान में आंचलिक-सार्वदेशिक के संधितत्वों से निबद्ध माने जा सकते हैं।

सागर, लहरें और मनुष्य

'सागर, लहरें और मनुष्य' उदयशंकर भट्ट का मछुआ जाति-विशेष पर आधारित उपन्यास है। इन मछुआरों का निवास बरसोवा ग्राम है, जिसका असली नाम 'बिसावा' है। 'यह बम्बई समुद्र-तट के पूर्व-पश्चिम में मछलीमारों की बड़ी बस्ती है—'अंधेरी' से पश्चिम की तरफ लगभग तीन-चार मील दूर है। इस जाति को 'कोली' कहा जाता है।'[3]

'सागर, लहरें और मनुष्य' में बरसोवा और वहां के मछुआरों का जीवन ही नहीं

---

1. श्री नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 233
2. श्री नरेश मेहता : यह पथ बन्धु था, पृ० 7 (भूमिका)
3. उदयशंकर भट्ट, सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० 10

बम्बई के नगर और उपनगरों का परिवेश भी लिया गया है। उपन्यास की मुख्य पात्रा के रूप में, इसमें बरसोवा की कोली जाति की लड़की रत्ना का चरित्र सविस्तार चित्रित किया गया है।

इन कोलियों का पेशा समुद्र से मछली पकड़कर ट्रकों-द्वारा बम्बई नगर के मछली बाजारों में ले जाकर बेचना है। मूसी, सुरमई, रावस, हलवा, टांगरी, रोहू, धान्टी, मांडील, खारा, साँभर, चीरी, तामड़ी, रांभास, शेवड़ी इत्यादि मछलियों के प्रकारों का जिक्र उपन्यास में हुआ है। मछलियों को पकड़ने के लिए होड़ी (नाव), मक्वा (बड़ी नाव), सुकाणु (पतवार), शीड (मस्तूल), काठी (पाल), परवान (जिससे मस्तूल बांधा जाता है), बल्ली, डोल (जाल), खांभा (मछली पकड़ने की रस्सी), वा (बाँस) इत्यादि चीजों की जरूरत पड़ती है।

कोली जाति दो प्रकार की है—थलकर और शिवकर। वैष्णव शिवकर वीरा देवी और खण्डोवा के उपासक थलकरों की अपेक्षा सुन्दर होते हैं। कम संख्या होने से बरसोवा के बाहर भी शादी-ब्याह करते हैं और शिवकर बरसोवा की सीमा में ही। शिवकर और थलकर आपस में विवाह नहीं करते। पैसों का लाभ कोलियों को स्त्रियों से ही होता है, इसलिए विवाह के लिए लड़के वालों को लड़की वालों की खुशामद करनी पड़ती है, लड़की वालों को पैसा भी देना पड़ता है।

कोली स्त्रियां साहसी होती हैं और उनकी जाति में स्त्रियों का ही राज चलता है। स्त्रियां अपने पति को पीटती भी हैं। बिट्ठल अपनी पत्नी बंशी से पिटता है। रत्ना भी एक बार अपने पति माणिक को पीटते हुए कहती है—'हम कोलिन हैं। कोली को नईं देखाय ? गनीमत जान हमने ओई भागा तेरा खून नहीं पिया।'[1]

भट्टजी ने इस उपन्यास में कोलियों के परम्परागत संघर्षपूर्ण जीवन के अतिरिक्त समुद्र में उठने वाले तूफान, उसकी लहरों की अठखेलियां, गर्जन तथा समुद्र को देवता मानकर पूजा करने का वर्णन भी बड़ी तन्मयता से किया है। उदाहरणार्थ समुद्री तूफान का जीवन्त चित्रण इस प्रकार है—'कोई पन्द्रह-बीस मिनट हवा के सनसनाते झोंके उठने लगे। समुद्र में खलबली-सी मच गई। जैसे सारे समुद्र को आंधी की विशाल मथानी से कोई मथे डाल रहा हो। आकाश को घने बादलों ने ढंक लिया। लगता था, जैसे हमारे ऊपर एक नया सागर उमड़ रहा हो। लहरें उछल-उछलकर 'मचवे' की पट्टियों से टकरातीं, अपने क्रोधी मुख से झाग फेंकने लगीं। लहरों को देखकर मालूम होता था, जैसे पहाड़ दूर से उड़कर चले आ रहे हों। उस समय हवा की रफ्तार कम-से-कम डेढ़ सौ मील प्रति घण्टा होगी। आदमी नाली पर खड़ा हो तो बात की बात में उड़कर लहरों में समा जाय।'[2]

नारियल पूर्णिमा के दिन स्त्रियां चांदी के पत्रों या सुनहरी पत्रों या फूलों से सजा हुआ नारियल लेकर, गीत गाती हुई एक खास जगह पर जाकर, समुद्र की पूजा और

1. उदयशंकर भट्ट : सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० 200
2. वही, पृ० 394

नारियल का विसर्जन करती हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि कोली जाति के मछुआरों की जीवन-शैली के अतिरिक्त, रत्ना के बरसोवा के ग्रामीण जीवन से लेकर, बम्बई-प्रवास के नगरीय जीवन तक के संघर्ष की कथा ही इस उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है। कोली जाति में उसके जैसी कोई दूसरी लड़की नहीं है। एफ० ए० पास रत्ना बरसोवा की अकेली लड़की है, जो कॉलेज जाती है। मत्स्यगंधा बनने का स्वप्न देखने वाली रत्ना सदा जवान रहना चाहती है। वह तरह-तरह की कल्पनाओं की दुनिया में खोई रहती है। उपन्यासकार के शब्दों में—'यदि कभी उसके मन में एक अध्यापिका बनने की इच्छा जागती, तो दूसरे ही क्षण वैभव में पली धनी लोगों की परिचर्या को देखकर वैसा बनने की चाह होती। तीसरे क्षण अखबारों में चित्र देखकर वैसी ही सिनेमा की हीरोइन बनना चाहती है।'[1]

अन्य कोली स्त्रियों की भांति मछली पकड़ने-बेचने का धन्धा भी उसे पसन्द नहीं। बम्बई की तड़क-भड़क उसे आकर्षित करती है, उसे बरसोवा का अपना जीवन नीरस और फीका लगता है। वह नफरत करती है बरसोवा से—'पिछले दिनों मैं बम्बई क्या घूमी, नई दुनिया देखी, सारिका, बारसोवा तो नरक है, गांवड़ा।'[2] या—'जहां मैं बड़ी बनकर रह सकूँ। मोटर, गाड़ी, मकान हो। ठाठ-बाट हो। मैं भी शाम को मेरीन ड्राइवे पर घूम सकूं, मलाबार हिल पर जा सकूं। सिनेमा देख सकूं। नौकर-चाकर भी हों।"[3]

अपनी इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही वह यशवन्त को छोड़कर उस माणिक से विवाह करती है, जो अपने लोभ में रत्ना का उपयोग धन्धे में पैसा कमाने के लिए करता है और रत्ना का आगे बढ़ने और बड़ी बनने का स्वप्न धरा रह जाता है। यह जानकर कि वह माणिक-द्वारा ठगी गई है, उसका घर छोड़ देती है और किसी सेठ-परिवार में आया की नौकरी करने लगती है, पर वहां भी अपने को असुरक्षित महसूस करती है और नौकरी छोड़ देती है। टाइप सीखती है। फिर वकील धीरूबाला के साथ रहती है। धीरूवाला से भी धोखा खाकर डॉ० पाण्डुरंग के अस्पताल में नर्स की नौकरी करती है।

मानवतावादी डॉ० पाण्डुरंग रत्ना को निर्दोष सिद्ध करने के लिए रत्ना की मां बंशी को कहते हैं कि रत्ना के साथ उनका विवाह हो गया है और रत्ना को होने वाली सन्तान को अपना बताते हैं। उस पर रत्ना आनन्द और श्रद्धा से भर उठती है। यहीं कथा समाप्त होती है।

'सागर, लहरें और मनुष्य' के आंचलिक पात्रों की पोशाक विशिष्ट है। 'बरसोवा के आदमियों की पोशाक एक बनियान या कमीज। नीचे घुटनों से ऊपर तिकोना, रंगीन रूमाल पहने रहते हैं। पीछे का भाग खुला। स्त्रियां लांगदार साड़ी या धोती

---

1. उदयशंकर भट्ट, सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० 32-33
2. वही, पृ० 112
3. वही, पृ० 113

पहनती हैं। ऊपर चोली, धोती का फेंटा कमर में खोंसा रहता है। सम्पन्न परिवार की स्त्रियां ऊपर चादर भी ओढ़ती हैं। कान में मछली की तरह सोने की गाँठें। गले में मंगलसूत्र (सोने की जंजीर), मोहनमाला या धवलाहार। हाथों में बांगड्या (कड़ा) सोने की।'[1]

अन्य पात्रों में पत्नी से डरने वाला सम्पन्न बिट्ठल रत्ना का पति है। दो नौकर, दो बड़ी होड़ी और एक छोटी होड़ी का मालिक भी। मेहनती है, मगर पत्नी के नौकर की तरह रहता है। ताड़ी, शराब पीता है। शरीर से मजबूत होने पर भी पत्नी से पिटता है—'सुबह घर लौटने पर बंशी जाल की मोटी-मोटी रस्सियों से पिटता रहा। उसके बाद नौकर की तरह एक कोने में जा बैठा।'[2]

बिट्ठल की पत्नी बंशी मछली का व्यवसाय चलाती है। ढलती उम्र की तेज-तर्रार और दबंग औरत है। अपने नौकर जागला से कहती है—'तो हमारा पास रे। एक बिट्ठल और दूसरा तू।'[3]

अपनी लड़की रत्ना को स्कूल भेजती है, ताकि लड़की पढ़-लिखकर बम्बइया स्त्रियों की भांति शानो-शौकत से रह सके। उनका पड़ोसी मामा बंशी का दूर का रिश्तेदार है, उसके पास भी अपनी नावें, नौकर थे, पर जुए में सब कुछ हार गया। मामा का पुत्र यशवन्त और रत्ना बचपन से ही एक-दूसरे के साथ खाये-खेले थे। अशिक्षित तथा रत्ना के बड़े-बड़े ख्वाबों को पूरा कर पाने का सामर्थ्य न होने के कारण, यशवन्त का विवाह रत्ना से न हो सका। वह बहुत दुःखी हुआ। उसने फिर शादी नहीं की, वह थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना सीखकर लोक की सेवा करता और उपन्यास के अन्त तक, रत्ना को बहन बना लेता है।

मंझोले कद का साधारण-सा माणिक अल्पशिक्षित और लोभी प्रवृत्ति का है। 'सिनेमा जिसके आनन्द की चरम सीमा है, साधारण धुले कपड़े पहने, गले में गजरा और सर में तिली का तेल लगाकर ब्रिलियेन्टाइन से होड़ करते हैं।'[4] पहले दुर्गा फिर बरसोवा की रत्ना से प्रेम करता है। विवाह से पहले रत्ना को घुमाता-फिराता है। तरह तरह के ख्वाब दिखाता है, पर विवाह के बाद उसके बहाने रुपया कमाना उसका उद्देश्य हो गया था। पार्वती, रत्ना की सहेली सारिका, जागला, (बिट्ठल का नौकर) हीरा बलीकर, छट्ठा, मनोहर, माटवेकर, डॉ० पाण्डुरंग, गूगी, मांगा, भीमसी माई, कांतिलाल, बड़ा मुनीम, चम्पा, चम्पा का पति, शंकर, कबली, गजानन, बाउला सेठ और उसका परिवार, धीरूवाला, सुनयना आदि 'सागर, लहरें और मनुष्य' के अन्य पात्र हैं।

'सागर, लहरें और मनुष्य' की भाषा को देखें, तो इसमें तीन तरह की भाषा

---

1. उदयशंकर भट्ट : सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० 10
2. वही, पृ० 12
3. वही, पृ० 32
4. वही, पृ० 175

मिलती है। कोलियों की भाषा मराठी-मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी है—'तो हमकू पूछने का क्या ? जो चांगला लगेगा, सो करेगा। बंशी कू कौन बोलेंगा, अइसा करो, अइसा मत करो बाबा। यशवन्त पन टीक है।'[1] सेठ का परिवार डॉ० पाण्डुरंग तथा रत्ना और सारिका आपस में खड़ी बोली हिन्दी का व्यवहार करती हैं।

रत्ना—'पुराना कुछ भी नहीं, सारिका! अरी बैठ न, ले यहां चटाई पर बैठ जा। हम मछुओं के यहां सोफासेट तो हैं नहीं। ले बैठ जा। कह क्या कुछ है ?'

सारिका—'बहुत दिनों से देखा नहीं था तुझे। परसों आई भी, तू मिली ही नहीं। वंशो की मां ने कहा तू बम्बई गई है।'[2] ··हालांकि रत्ना और सारिका के बीच ठेठ हिन्दी खड़ी बोली में बातचीत उपन्यास में बम्बइया हिन्दी के प्रयोग की प्रधानता को देखते कुछ अस्वाभाविक ही लगती है; क्योंकि बम्बईवासियों के संवाद की हिन्दी ऐसी नहीं।

वकील धीरूवाला की गुजरातीमिश्रित खड़ी बोली हिन्दी का नमूना इस प्रकार है—'फिर जो हम कहना चाहता हूं, वह तो आपको समझने में कोई हरथकत नहीं है। हस चाहता हूं आपको गमे तो करो। मानो मेरा धन्धा वकील का है। रुपया-पैसा है। वह सब तुम्हारे कू होना है। वह सब उसी बखत होना है। जब तुम्हारे कू मेरे का होना, गमे तो मान।'[3]

'सागर, लहरें और मनुष्य' में आये कुछ आंचलिक शब्द इस प्रकार हैं—खल्लास चांगला, गप्पह, सकाली, उशिर, बापरा, खात्री, झेर, फते, माहेती, ओक्ष, परताय, नीट, घसड़ा करताय, आखा, लीकरं, पहिये, बपोरे, जास्ती, मूक, कदाच, ठोका, गाठिया आदि। हाथ मारे ले, अपना रास्ता नाप, काम के नाम पर मौत खाएगा, चरखी चढ़ाय, हाथ से निकल जायेगा, दूम मारताय, जान हथेली पर रखे, उड़ाकर ले जाना, सूरत नई देखेगा, जाल डालना, गुजारा चलताय, बाप का नौकर, नवाब हो गयाय, खल्लास कर देयेंगा, भुरकुस बना देना, गुस्सा का पर लग गियाय, घर में आग लगाने इत्यादि मुहावरों का प्रयोग है।

सामुद्रिक वातावरण के अनेक सुन्दर चित्र इस उपन्यास में हैं—'उस दिन मंगलवार था, पूनो की रात। आकाश से दूध की धार बरस रही थी। धरती का कोना-कोना हंस रहा था। समुद्र की सतह पर जहां तक निगाह जाती, मोतियों का चूरा बिखरा था। लहरों की आकाश चूमने वाली ऊंची दीवारों के किनारों पर फेनों की गोट लगी दीख पड़ती थीं। अभिमान की तरह लहरें ऊंची-से-ऊंची उठ रही थीं। सारा समुद्र लहरों के महान् खिलाड़ी के उल्लास-उमंग से उत्तरंग हो रहा था।'[4]

'सागर, लहरें और मनुष्य' में कई लोकगीत प्रयुक्त हुए हैं। बरसोवा के एक

1. उदयशंकर भट्ट : सागर, लहरें, और मनुष्य, पृ० 11
2. वही, पृ० 109
3. वही, पृ० 269
4. वही, पृ० 3

नाच-गाने के आयोजन में सामूहिक गान—

'ए रे भोला सर्व ना बाला रे बाला रे।
आसी तू काशी का खण्डाला खण्डाला ।।
माई पित्याची कावर खण्डाला खण्डाला।
ए रे मोला सर्व ना बाला रे बाला रे ।।"

सगाई के अवसर का एक गीत—

'नाइ गोंगे, खाल गोंगे आज लायलिगी मजूरी झर
ए धूनी बर खाले मांझे कवल वाइली का लागो।'

'सागर, लहरें और मनुष्य' का सम्पूर्ण रचना-विधान आंचलिक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें एक तरफ बरसोवा गांव का आंचलिक चित्रण है, तो दूसरी तरफ रत्ना का बरसोवा से लेकर बम्बई में डॉ० पाण्डुरंग के साथ तक का चरित्र-चित्रण। डॉ० धनंजय वर्मा के शब्दों में 'यानी उपन्यास का दो-तिहाई एक विशेष परिवेश को लेकर चलता है और इसी सीमित अर्थ में वह आंचलिक कहा जा सके, तो कहा जाय, अन्यथा उसका मूलकथ्य और आशय तो कहीं भी उसे आंचलिकता की सीमा में नहीं बांधता।' और श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा इसे न तो आंचलिक उपन्यास मान पाते हैं और न ही चरित्र-प्रधान—'ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने युग की दो विरोधी औपन्यासिक प्रवृत्तियों में जैसे सामंजस्य ढूंढ़ने की चेष्टा की है—किन्तु उभयमुखी प्रवृत्ति होने के कारण न तो बरसोवा के आंचलिक जीवन के प्रति ही न्याय कर पाया है और न रत्ना के मन में लरजते हुए तूफानी जीवन को ही पूर्णतः व्यक्त कर पाया है।'[1]

बम्बइया गुजराती-मराठी मिश्रित हिन्दी प्रयोग में आंचलिकता जरूर झलकती है, परन्तु इसका शिल्प आंचलिक उपन्या का नहीं है। उपन्यास में बरसोवा के मत्स्य-जीवी अंचल की जगह, रत्ना के चरित्र-चित्रण को प्रमुखता मिली है। एक अर्थ में उपन्यास पूर्णतया नायिका-प्रधान है। कथा में बिखराव भी नहीं है। रत्ना को केन्द्र में रखकर प्रमुख कथा उभरती है और उसी के चारों ओर सम्पूर्ण उपन्यास का ताना बाना बुना गया है। हां, यह कहा जा सकता है कि लेखक ने जहां बरसोवा का चित्रण किया है, उसमें आंचलिक चित्रण सघन रूप में है, परन्तु इसे पूर्णतः आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। इसके रचना-विधान में आंचलिक उपन्यासों के मुख्य उपादान गौण मात्रा में ही दिखते हैं। इसमें अंचल-विशेष के जीवन-प्रवाह को नेपथ्य की भांति इतनी समग्रता में नहीं लिया गया है कि आंचलिकता के तत्व उपन्यास के ताने-बाने में कोई प्रभावी भूमिका अदा कर सकें, किन्तु इतना फिर भी मानना होगा कि आंशिक तौर पर

---

1. डॉ० धनंजय वर्मा : दिशाओं के परिवेश, पृ० 127
2. श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'सागर, लहरें और मनुष्य : एक पुनर्मूल्यांकन', आलोचना : जनवरी 1966, पृ० 151

बरसोवा के मछुआरों के जीवन को इतनी सघनता में जरूर प्रस्तुत किया गया है कि हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की मुख्य धारा से इसे बिलकुल एक किनारे नहीं किया जा सकेगा।

कब तक पुकारूं

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं' पहले 'अधूरा किला' शीर्षक से लिखा गया था। आंचलिक उपन्यास-रचना के प्रारम्भ में केवल ग्रामांचल की सम्पूर्ण और अनोखी झलक देने वाले उपन्यास ही आंचलिक माने जाते थे। धीरे-धीरे विषय-क्षेत्र का विस्तार होने से 'विशिष्टता' ही आंचलिक उपन्यास की कसौटी बन गई और नगर, मुहल्ले, जाति जनजाति पर आधारित उपन्यासों को भी आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में स्थान मिल गया। 'कब तक पुकारूं' में रांगेय राघव ने राजस्थान के गांव के जरायमपेशा करनटों की जिन्दगी का यथार्थ परिचय देने की कोशिश की है।

बहुजातीय अंचल की जगह, एक जनजाति विशेष के जीवन पर आधारित होने से यह उपन्यास सामाजिक संरचना का एककोणीय आयाम प्रस्तुत करता दिखाई पड़ता है, हालांकि पूरी गहराई और व्याप्ति में इसमें ठाकुर-बामनों के प्रकरण भी आते हैं, लेकिन उपन्यास की मुख्यधारा करनटों के इर्द-गिर्द ही रहती है। शायद, इसकी इस विशिष्टता के कारण ही, डॉ० शम्भूसिंह ने यह निष्कर्ष दिया है कि—'डॉ० रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में करनटों के जीवन का चित्रण है। यह विशुद्ध जनजातीय आंचलिक उपन्यास है।'[1]

करनटों के सामाजिक शोषण को उद्घाटित करने वाले इस उपन्यास को डॉ० बदरीप्रसाद प्रगतिवादी मानते हैं—'प्रगतिवादी विचारों को सर्वाधिक सशक्त अभिव्यंजना की दृष्टि से लेखक की रचना 'कब तक पुकारूं' हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यास-लेखन की परम्परा में विशिष्ट स्थान रखती है।'[2]

करनटों के पेशे, रहन-सहन, आचार-विचार, आजीविका के अनोखे ढंग, उनकी नैतिक मान्यताएं, समाज में उनकी स्थिति, उनके उत्सव-पर्व का लेखक ने सजीव चित्र खींचा है और यह भी दिखाया है कि किस प्रकार समाज का उच्च वर्ग, चाहे, जाति की दृष्टि से या पद—पैसे की दृष्टि से, करनटों को मूर्ख मानकर उनकी अशिक्षा, अज्ञानता और निर्धनता का लाभ उठाकर उनका शोषण करता है।

सामन्ती व्यवस्था के उत्पीड़न के शिकार ये खानाबदोश करनट गरीबी के कारण चोरी करके ढोल मढ़कर, हिरन की खाल, कस्तूरी, शहद, रोज के सींग, सांढा,

---

1. डॉ० शम्भू सिंह : रांगेय राघव और आंचलिक उपन्यास, पृ० 37
2. डॉ० बदरीप्रसाद : प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास, पृ० 131

दवा-दारू बेचकर, खेल दिखाकर और भीख मांगकर अपनी आजीविका का अर्जन करते हैं। सेक्स-सम्बन्धी परम्परागत नैतिक मान्यताओं से इनकी मान्यतायें भिन्न हैं।

'यहां कोई बुराई सेक्स के आधार पर नहीं मानी जाती',[1] लेखक पाठकों से अपेक्षा करता है कि 'इसमें सेक्स को ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिए कि यह इनमें होता है।'[2]

ये लोग आपस में ही ब्याह-शादी कर लेते हैं, औरतों को विधवा नहीं रखते। हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं, देह बेचकर धनोपार्जन करना इनकी स्त्रियों की मजबूरी है। प्यारी अपनी मजबूरियों का हवाला इन शब्दों में देती है—''मैं कमीन, अनपढ़, नीचों में नीच, जाति की नीच, बिरादरी के मेरे लोग नीच, पेट की भूखी-नंगी।'[3]

इस उपन्यास का नायक सुखराम मानवताप्रेमी है। सुखराम चौड़ी हड्डियों और मोटी-गठीली सख्त गर्दन वाला बहादुर मर्द है और सूंती-साती, फोड़ा-जखम, अडीढ जानता है, थोड़ा-बहुत बुखार का हाल बता सकता है। अपने को ठाकुर समझता और ठाकुरों के 'अधूरे किले' को अपनी मिल्कियत मानता है। किसी से नहीं डरता। अन्य करनटों की भांति छककर शराब नहीं पीता, चोरी से घृणा करता है। ऊंची जात वालों की बराबरी करना चाहता है, परन्तु परिस्थितियों की जकड़ इतनी गहरी है कि निरीह मजबूर और अवश सुखराम कुछ कर नहीं पाता। सुखराम में सामन्ती व्यवस्था से विद्रोह करने की छटपटाहट है।

'कब तक पुकारूं' में अनेक प्रकार की परिस्थितियों में, नायक सुखराम के मन की प्रतिक्रियाओं का अंकन लेखक ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। ये प्रतिक्रियाएं उसकी अपनी स्वतन्त्र प्रतिक्रियाएं नहीं हैं, उनके पीछे युग-युग के चले आते हुए संस्कार हैं, परम्पराएं और रूढ़ियां हैं, आर्थिक दुरव्यवस्था से जन्य पीड़ाएं हैं।'[4]

परम्परा से करनट जाति की स्त्रियों पर जो जुल्म होते रहे हैं, वह सुखराम ही नहीं, प्यारी की मां सोनी को भी नागवार लगते हैं। वह सुखराम में अपनी बेटी का सुखमय भविष्य खोजती है। अपनी आकांक्षा और अपेक्षा को वह इन शब्दों में आकार देना चाहती है—'मैंने सुखराम को पाला है कि यह मेरी बेटी को दुनिया के जुलम से बचा सके। क्या बात है कि बड़ी जात की औरतों में जो इज्जत से रहती है, मेरी बेटी क्यों नहीं रह सकती। मैंने इसी आशा से इतने लाड़ से पाल-पोसकर बड़ा किया है।'

सुखराम स्थितियों के प्रति सचेत है। वह अपनी जाति की दयनीय अवस्था से दुःखी होकर कहता है—''हमारे पास जमीन नहीं, कुछ नहीं। आसमान के नीचे सोते हैं, धरती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं, रौंदे जाते हैं।'[5]

---

1. रांगेय राघव, कब तक पुकारूं, पृ० 6
2. वही, पृ० 263
3. डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 159
4. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 29
5. वही, पृ० 149

सब मनुष्य समान हैं। इतना वह भी जानता है कि—'कौन नीच है कौन ऊंच है···। मेरी राय में तो जनम से आदमी नीच नहीं होता, करम से होता है। सब बराबर हैं। एक जगह से जनम लेते हैं, मरकर एक ओर जाते हैं।'[1]

फिर भी वह पुलिस और बड़ी और ऊंची बात वालों की हुकूमत से, डरता है क्योंकि ये पुलिस और ऊंची जात वाले जब चाहते हैं, उनकी औरतों को भी रख लेते हैं। जो औरतें यह देह-व्यापार नहीं चाहतीं, उन्हें उठवा लिया जाता है और उनके पुरुष कुछ नहीं कर पाते। मार दिये जाने के भय से करनट उनका विरोध भी नहीं कर सकते। पुलिस की ताकत और बर्बरता का लम्बा-चौड़ा ब्यौरा देता है—'सिपाही को ताकत होती है। वह राजा का आदमी होता है। वह सबसे घूंस लेते हैं। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता-बैठता है। घर जाता है, उधर ही नट दौड़कर छिप जाते हैं। हम तो यही देखते हैं कि चाहे जब चाहे, जिस नटनी कंजारिया को पकड़कर ले जाता है। लोग इससे डरते थे, क्योंकि यह थाने में पकड़ ले जाता था। वहां हमें चोर कहा जाता था। फिर हम लोग बेंतों से पिटते थे। कभी-कभी गुड़ के, पानी के छींटे भी दे दिये जाते थे, जिससे चेंटें लग जाते थे और देही सूज जाती थी। फिर उसकी बात ही सच मानी जाती थी। हमें हमेशा गाली दी जाती थी। अगर किसी ने सिर उठाया, तो वह जेल की हवा खाता था। चक्की पीसते-पीसते उसकी धज्जियां उड़ जाती थीं।"

सुखराम के साथ भी ऐसी एक घटना उपन्यास के प्रारम्भ में ही घटती है, नटनियां प्राय: घूंघट काढ़कर ही खेल दिखाती या नाचती हैं। किसी को प्यारी की सूरत दिख जाती है, प्यारी के मां-बाप के पास पुलिस के आदमी रात को प्यारी के थाने पर ले जाने के लिए जाता है। अपने मां-बाप मरने के पश्चात् सुखराम तब प्यारी के मां-बाप के पास ही रहता था। उसने बड़ा विरोध किया। इस पर उसकी खूब पिटाई हुई। प्यारी को फिर भी थाने में एक रात बितानी पड़ी। आखिर उसी ने अपना जोबन सौंपकर सुखराम को छुड़ाया। सुखराम पश्चाताप में डूबा रहता है। पुलिस के नृशंस अत्याचारों से पीड़ित होकर, वह सोचता है—'इस दुनिया में पुलिस क्यों रखी जाती है ? यह दुनिया कितनी अच्छी होगी, जिसमें पुलिस नहीं होगी।'[2]

इस गांव के चमारों की सामाजिक स्थिति भी करनटों की-सी है। विधवा धूपो पर हुए बलात्कार ने चमारों की जाति में आक्रोश उत्पन्न कर दिया। सभी मिलकर उच्चवर्ग के शोषण से बदला लेने की कोशिश करते हैं। रुस्तम खां के घर में आग लगती है, जो कि वास्तव में निरोती बामन द्वारा लगायी जाती है, पर पुलिस को शक है कि आग चमारों ने लगायी है। सिपाही चमारों पर डंडे बरसाते हैं—'डंडों के आगे लोगों के सिर फट गये। उनके माथे से रक्त बहने लगा। संघर्ष शुरू हो गया। सिपाही अधिक नहीं थे, गांव के थानों पर अधिक रहते भी नहीं। वहां तो राज से लोग वैसे ही डरते हैं। वे इसी आशंका में दबे रहते हैं कि इनके पीछे एक और बड़ी शक्ति है, जो कुचल देती है।

---

1. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 153
2. वही, पृ० 146

चमार क्रुद्ध थे, वे भी टूट पड़े ।'[1]

स्त्री के प्रति सुखराम के मन में बड़ा सम्मान है, श्रद्धा है। स्त्री पर किसी किस्म का जोर-जुल्म उसे सह्य नहीं। स्त्री के प्रति अपनी इन सद्भावनाओं के कारण वह धूपो पर हुए बलात्कार का बदला लेता है। लॉरेंस से सूमन के अपमान का बदला लेता है। प्यारी के पेट में रुस्तम खां जब लात मारता है, तो सुखराम कहता है—'औरत का पेट धरती माता की तरह होता है। उस पर वही लात दे सकता है, जो बिलकुल जिनावर हो, आज से नहीं सदा से ही मानुस इस कोख की इज्जत करता आया है; क्योंकि यह भगवान को अपनी दया की दुनिया दिखाती है।'[2]

सुखराम की पहली पत्नी प्यारी बचपन से ही सुखराम को चाहती थी। सुखराम के मां-बाप की मृत्यु के बाद प्यारी ने ही उसे सहारा दिया था, इसीलिए प्यारी के मरने के बाद उसे विश्वास ही नहीं होता कि प्यारी उसे छोड़कर जा भी सकती है। प्यारी के रुस्तम खां की रखैल बन जाने के बाद सुखराम अकेला हो जाता है, वह प्यारी के साथ भी नहीं रह सकता और प्यारी के बिना भी नहीं रह सकता। ऐसे समय कजरी से मुलाकात होती है और फिर सुखराम और कजरी का विवाह भी हो जाता है, यह जानकर प्यारी को बड़ा दु:ख होता है। हालांकि सुखराम से अटूट प्रेम होने पर भी वह स्वेच्छा से रुस्तम खां के पास उसकी रखैल बनकर रहती है, परन्तु प्यारी अपने सुख के लिए रुस्तम खां के पास नहीं जाती। वह कहती है—'गदेले मुझे हराम है। पान खाती हूं तो पीक न थूककर लहू उगलूं, तो मैंने झूठ कहा हो। मेरा गदेला तू था। था नहीं, तू ही रहेगा भी।'[3]

'मैंने एक किया वह तू है। बाकी के पैसे कमाने के लिए थे। उनको मैंने दिल नहीं दिया।'[4]

उसकी मान्यता है—'नाता जोड़ना और बात है, मन की हो के रहना और बात है।—'वह अपने पर ठाकुरों-द्वारा हुए अत्याचारों का पुलिस की सहायता से बदला लेने के लिए रुस्तम खां के पास जाती है और बदला लेती भी है—प्यारी की हुकूमत अब शुरू हुई। एक रात निरोती बामन के घर में चुपचाप आग लग गई और उसकी औरत को पुलिस ने हिरासत में ले लिया···दूसरे हफ्ते खबर मिली कि दो ठाकुरों को हिरासत में ले लिया गया है।···वे सड़क के भिखारी हो गये।'[5]

उपन्यास में सहनायिका की भूमिका में उतारी गई कजरी ने सुखराम को उस स्थिति में सुख पहुंचाया; जब प्यारी सुखराम के पास नहीं थी। प्यारी उसका एहसान मानती है, लेकिन सुखराम-कजरी का विवाह होने के बाद प्यारी और कजरी से शुरुआत

---

1. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 311
2. वही, पृ० 321
3. वही, पृ० 75
4. वही, पृ० 80
5. वही, पृ० 50

में सौतिया ढाह जरूर रहता है। फिर भी, वे एक-दूसरे से घृणा नहीं कर पातीं। कजरी की सुखराम से शर्त थी कि वह प्यारी से तभी मिलने जाएगी, जब वह उसके पैर में महावर लगायेगी। जब प्यारी और कजरी रुस्तम खां और बांके को मार डालती हैं और प्यारी रुस्तम खां के रक्त से छोटी को महावर लगाती है, तब दोनों के हृदय में सौत होने के कारण जो दूरी थी, वह मिट जाती है। प्यारी कहती है—'देख ! मैंने तेरी टेक रख दी, छोटी ! मैंने तेरे महावर लगा दिया···दोनों के जीवन के इस अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी तथा रोमांचक क्षण को उपन्यासकार ने इन षब्दों में अभिव्यक्त किया है—"दोनों हंसीं। फिर दोनों ने एक-दूसरी को भेंटकर, मुंह चुम लिया। दोनों खुशी से रो रही थीं। आज जैसे दोनों के दिल एक हो गए थे। लोहे की दीवारें हिल गई थीं।'[1]

सुखराम को तो प्यारी और कजरी दोनों ही लुभाती हैं। मन-ही-मन प्यारी और कजरी की तुलना करता है। 'कजरी उसे अपना मालिक समझती है, मरद समझती है। प्यारी उसे मालिक और मरद शायद कुछ ही क्षण में मानती है, वैसे वह समझती है, वही उसकी रक्षिका है। सुखराम में जैसे अकल नहीं है। जो कुछ संभाल रखा है, वह प्यारी ने ही। दोनों अच्छी हैं, पर एक-दूसरे से कितनी दूर हैं।'[2]

रुस्तम खां पुलिस की बर्बरता का प्रतीक है ही, उसका साथ देने वाले बांके की मृत्यु पर लेखक उसके चरित्र का वर्णन करता है—'वह पाप का पुंजीभूत स्वरूप इस समय मरा पड़ा था। उसका वह दम्भ, वह सभ्यता, वह बर्बरता, वह क्रूरता, सब इस समय मिट्टी का ढेर बनकर पड़े थे। रावण के मरने पर लोगों ने यह भी तो शोक किया था कि—'हा ! ऐसा महान विद्वान् यदि ठीक राह पर चलता, तो क्या न कर देता। परन्तु बांके नीच था, उसके लिए ऐसा कहने वाला भी कोई नहीं था।"[3]

इन पात्रों के अतिरिक्त सूसन, सूसन के जीवन का सर्वनाश करने वाला लॉरेंस, उनकी बेटी चन्दा, चन्दा का प्रेमी नरेश, नरेश के पिता ठाकुर विक्रम सिंह और उनकी पत्नी, धूपो, खचेरा, निरोती बामन, ठाकुर हरनाम, चरन, दीवान्ती, कुर्री, डाकू खड्गसिंह आदि अनेक पात्रों का वर्णन इस उपन्यास में है।

लेखक ने उपन्यास में कई जगह वातावरण-चित्रण के द्वारा शीत लहर वाले बरसाती मौसम का एक जीवन चित्र-सा खींचा है। एक लम्बा उद्धरण द्रष्टव्य है—

'कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। जगह-जगह अलाव जल रहे थे। मनुष्य की आदिम अवस्था से अभी अधिक उन्नति नहीं हुई थी। लोग आग को सीने से लगाये बैठे थे। बाहर जाने का अर्थ नहीं था, क्योंकि हवा चीर डालती थी और दांत-से-दांत बजाती हुई, वह अपनी झांझ-सी बजाती, पेड़ों में लात मार-मारकर ठहाके लगाती थी। फिर कभी बरसते मेघों की गिरती जलधारा को पकड़ने जाती, तो वे बौछारें तिरछी हो जातीं और धरती पर सीधी चोट न करके आड़ी होकर मारने का प्रयत्न करने लगतीं। मंजील

---

1. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 306
2. वही, पृ० 472
3. वही, 299

पर धुआं-सा छा गया था। वह लबालब भर गई थी। यह महखट आई थी—चनों को उबारने, इंसान की हफ्तों की कड़ी मेहनत, जो खेतों में फूट निकली थी, उसे जला देने के लिए। किला भीगकर और लाल निकल आया था और हरे पेड़ ठिठुरे हुए-से भीग रहे थे, जिन पर कभी-कभी मोर कैओं-कैओं करके चिल्ला उठते और फिर वही दमघोंट नीरवता काटने लगती, जैसे पहले से भी गहरी हो गई हो।'[1]

ब्रज के समीप भी होने से भाषा में भी इसका प्रभाव झलकता है। हविस, बरीसा, पीचपन, ल्हास, दींच, आधमाई, लोहू, पुलस, पुरबिले आदि अनेक शब्द स्थानीय विशिष्टता की झलक देते हैं। स्थानीय बोली का सीमित, किन्तु जीवंत प्रयोग उपन्यास में जगह-जगह मिल जाता है। स्थानीय शब्दों का प्रयोग वार्तालाप में भी मिलता है—'अरी बहू! तू चली गई, जवानी में कमेरा छोड़ गया और तूने कभी मन छिपाया, हाय, आज तू भी चली गई, और ये राच्छस, उनका सत्यानाश जाए, जिन्होंने तुझ पर हाथ उठाया···?

यह एक निर्विवादतथ्य है कि पात्रों की अपनी स्थानीय रंगत वाली भाषा को किसी भी क्षेत्र में या अंचल-विशेष के जीवन यथार्थ को प्रामाणिक ही नहीं, बल्कि पारदर्शी और कलात्मक स्तर पर चित्रित करने में एक विशिष्ट भूमिका होती है।—'कब तक पुकारूं' में भी भाषा का ऐसे प्रयोग हैं।— 'भाषा में जो स्थानीय भाषा का उभार दिखता है, वह यथार्थ की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में सहायक है।'[2]

गालियां-कुतिया, कढ़ीखाए, हरामजादी, दईमारी, डायन, नासपीटे, छिनाल, सूहर, साले, भाषा की व्यंजना-शक्ति को बढ़ाती हैं। कहावतों और मुहावरों से उपन्यास भरा पड़ा है -- जैसे — मढ़ी पै मत चढ़ जइयो, गाढ़ी देख के लाढ़ी के पांव फूलने लगते हैं, बगुला अगर भगत बनेगा, तो भी बिल्लैया (बिल्ली) भगतिन नहीं छोड़ेगी। चछूंदर के सिर में चमेली का तेल, पहाड़ फटा, टेक रखना, ताली एक हाथ से नहीं बजती, पांव की जूती, मुझे ही सींग दिखाये मेरी गैया आदि।

यह उपन्यास नायक सुखराम की आत्मकथा के रूप में लिखा गया है। जीवन संघर्ष और अनुभूतियों की गहराई से वर्णन में लेखक ने भरपूर संवेदना और अनुभव-सम्पन्नता का परिचय दिया है और उसके लिए वर्णनात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। तथ्य जो कि सुखराम के हैं, उसके लिए लेखक ने आत्म-कथात्मक शैली अपनाई है, ताकि सामान्द के मनोजगत के असामान्य को पूरी विविधता और कलात्मकता में चित्रित किया जा सके।

'कब तक पुकारूं' एक विशालकाय उपन्यास है। शिल्प-संगठन में ढीलापन होने के बावजूद, इसे 'अपने ढंग का सशक्त और अनूठा उपन्यास।'[3] माना गया है, क्योंकि यह मानव-जीवन की सामान्यता को भी एक विराट फलक पर उपस्थित करता है, और

1. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 549
2. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 241
3. श्री गोविन्द रजनीश : आलोचना—अंक 35, पृ० 170

जिन करनटों का जीवन उपेक्षा में ही ओझल रह जाता, उपन्यासकार उन्हें एक गहरे मानवीय सरोकार के साथ प्रस्तुत करता है। हालांकि अपने शिल्प-विधान में 'कब तक पुकारूं' आंचलिकता के प्रतिनिधित्व के तौर पर 'मैला आंचल'-जैसा नहीं, परन्तु डॉ० नगीना जैन की यह निष्पति निस्सार नहीं कही जा सकेगी कि—'कब तक पुकारूं' शिल्प और कथा की दृष्टि से 'मैला आंचल' से अधिक सशक्त प्रयोग है।'[1]

करनटों के विशिष्ट रीति-रिवाजों, अन्धविश्वासों, मान्यताओं, टोने-टोटकों, आचार-विचार आदि में भरपूर आंचलिकता होने से 'कब तक पुकारूं' को आंचलिक उपन्यासों की मुख्यधारा से जोड़ना जरूरी हुआ, हालांकि जैसा कि पहले लिखा गया, आंचलिकता की अवधारणा का स्पष्ट प्रस्थान-बिन्दु 'मैला आंचल' ही माना जाता है। जनजातीयता को आंचलिकता का ही तत्त्व मानना होगा और 'कब तक पुकारूं' की कथावस्तु पुरी तरह जनजातीय जीवन पर आधारित है। कथावस्तु भी रचना-विधान का एक प्रमुख अंग है, क्योंकि कथावस्तु के विन्यास पर ही उपन्यास का शिल्पगत ढांचा भी निर्भर करता है।

अलग-अलग बैतरणी

'अलग-अलग वैतरणी' स्वातंत्र्योत्तरकालीन बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों व मूल्यों पर आधारित 667 पृष्ठों का विशालकाय उपन्यास है। करैरा गांव की भौगोलिक बनवाट का परिचय लेखक ने इस प्रकार दिया है—

'तलैया के दक्खिनी कगार पर करैता की चमरौटी आबाद है। गांव बड़े लोगों से 'नान्ह लोगों' को अलग करती हुई यह तलैया मुझे इसी कारण कभी स्वाभाविक नहीं लगती। शूद्र, चांडाल, चिड़ीमार, कसाई, शर्कट के बाहर रहेंगे—यह व्यवस्था जिस किसी ने, जब भी दी हो, उस समय तलैया नहीं रही होगी। मुझे यह इतमीनान नहीं होता कि इस व्यवस्था के पहले यहां तलैया थी और इसके उत्तर तरफ सवर्ण और दक्षिण तरफ शूद्र बसा दिये गये। यह खाईनुमा तलैया जरूर बाद में बनी, क्योंकि गांव वालों को लगातार डर होगा कि कहीं चमरौटी की आबादी समतल सीमा को चीरकर किसी दिन उनसे न सट जाय। इसलिए हमेशा माटी निकाल-निकाल इस तलैया को गहरा किया जाता रहा होगा और भेदकारी पूर्वी भीटे को ऊंचा। पूर्वी भीटा ऊंचे छपरे की तरह गांव को चमरौटी से जोड़ता है। दोनों बस्तियों का दूर-दूर रहना जरूरी है, क्योंकि व्यवस्था है, इसलिए तलैया है, लेकिन दोनों के मिले बिना एक-दूसरे का काम न चलेगा। इसलिए ऊंचा भीटा है। पोढ़ रास्ता है। वह दोनों को जोड़ता है।'[2]

---

1. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० 174
2. शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० 223

डॉ० विजयदेवनारायण साही इसे आंचलिक उपन्यास मानने को तैयार ही नहीं है—'मैं भी शिवप्रसाद सिंह के इस उपन्यास की आंचलिकता की पंक्ति में न रखा, सामाजिक दस्तावेजों के साथ ही नत्थी करूंगा, बहुत ही खुशखत लिखी हुई दस्तावेज है।'[1]

स्वयं शिवप्रसाद जी भी इस उपन्यास को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखने में हिचकिचाते हैं—'मैं चाहे लाख चाहूं, पढ़ने वाले इसे यदि आंचलिक उपन्यासों की पंक्ति में डाल दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूं। हां, निवेदन सिर्फ इतना है कि पढ़ते समय उपन्यास यदि आंचलिक लगे तो लगे, आपकी दृष्टि आंचलिक न हो, बस।'[2]

लेखक, पाठक, आलोचकों के 'आंचलिक दृष्टि' न रखने की बात शायद, इस-लिए कहता है कि क्योंकि आंचलिक दृष्टि उपन्यास की सम्प्रेषणीयता को व्यापक स्तर पर फैलाने में बाधा डालती है और इससे उपन्यास के एक सीमित क्षेत्र तक ही सम्प्रेषणीय बन जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है और आंचलिक उपन्यास में इससे भाषा-शिल्प ही नहीं, बल्कि वस्तु में भी सार्वदेशिक स्तर पर सम्प्रेषणीय और सुबोध बने रहने की संभावना को क्षति पहुंच सकती है।

करैता गांव उत्तर भारतीय गांवों का प्रतिनिधि गांव लगते हुए भी, करैता के देवीधाम पर हर साल रामनवमी को लगने वाला नरधन का मेला (जो अपनी रंगीनी, चहल-पहल, हंसी-खुशी, मस्ती के लिए मशहूर है), मेढ़ों की लड़ाई (सभी मेलों में होती है, पर गबरू नट का मशहूर मेढ़ा 'करीमन' सिर्फ इसी मेले में आता था। प्रतापी असकामिनी देवी, बुल्लू पण्डित के विशिष्ट चरित्र, पानी बरसाने के लिए मनाया जाने वाला हरपवँरी पर्व, पटा-बनेही के खेल, घीसू धोबी और उसके लड़के सुरजितवा तथा पटनहिया भाभी द्वारा गाये गये लोकगीत करैता के खास खिचड़ी के त्योहार जैसे आंचलिक रीति-रिवाजों, परम्पराओं और परिवेश के क्षेत्रीय विशिष्टता वाले चित्रों के कारण इसे आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाता रहा है।

स्वतंत्रता के बाद जमींदारी-उन्मूलन हुआ, तो करैता में मानवीय सम्बन्धों में टकराहट, मूल्यहीनता, अनैतिकता, लड़ाई-झगड़ा, मारपीट, गुण्डागर्दी बढ़ती ही गई। कनिया-बुझारथ का पुत्र बुद्धू अपने चाचा विपिन को मारता है, जबकि उस समय बड़े भाई के खिलाफ बोलना तक बेअदबी मानी जाती थी। जमींदारी टूटने के बाद पंचायत के चुनाव में भी राजनीतिक दांवपेंच और पैंतरेबाजी चलती है। सुरजू सिंह काफी रुपया खर्च करके भी ग्राम पंचायत का चुनाव हार जाते हैं। जमींदारी टूटने के बाद भी सुखदेव की आड़ में ठाकुर जैपाल सिंह का ही हुकुम चलता है। सुखदेव सिर्फ नाम का ही सरपंच था—'यदि वारदातों और उनके फैसले का लेखा-जोखा करे, तो उसे यह जान-

---

1. आधुनिक हिन्दी उपन्यास—सं० भीष्म साहनी, डॉ० रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद सिदारिया, पृ० 517
2. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, भूमिका

कर बड़ी हैरत होगी कि एक भी फैसला ठाकुर के मन के खिलाफ नहीं हुआ।'[1]

बाबू जैपाल और सुरजू सिंह के दादा मेघन सिंह की आपसी रंजिश के बावजूद, छोटे भाई देवपाल और सुरजू की बुआ राजमती एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और मेघन सिंह धोखे से देवपाल को शरबत में जहर देकर उनकी हत्या करवाते हैं और राजमती फांसी लगाकर आत्महत्या कर लेती है।

करैता के जितने भी सुधारक, शुभचिंतक और उन्नति चाहने वाले लोग हैं, सभी सुधारवादी प्रयत्नों में असफल होकर, एक-एक कर, करैता से पलायन कर जाते हैं। सब अपने-अपने दुःखों और समस्याओं की वैतरणी में डूबते-उतराते हैं—'इस वैतरणी को पार नहीं किया जा सकता, सिर्फ इससे भागकर जाया जा सकता है, गाजीपुर में डिग्री कॉलेज की अध्यापकी के लिए।'[2]

मास्टर शशिकांत करैता में 'डम्प' किये जाने पर बड़े खुश होते हैं। सभी लोग अफसोस करते हैं कि यह शशिकांत की प्रतिभा का दुरुपयोग है, परन्तु शशिकांत समझता है—'शायद, यह मेरी जिन्दगी की सबसे बड़ी परीक्षा की घड़ी है।'[3] वह गांव के स्कूल की उन्नति के लिए यथासम्भव प्रयत्न करता है, परन्तु मुंशी जवाहिर लाल और सुरजू सिंह के कुचक्र में फंस जाता है और अपमानित होने से बचने के लिए सुबह होने से पहले ही एक दिन करैता छोड़कर चला जाता है। 'सूरज की रोशनी में शशिकांत करैता आया था। आज वह रात की अंधेरी में अपने सारे हौसले लुटाकर लौट रहा है। स्टेशन का रास्ता गांव के भीतर से जाता है, मगर वह गांव की गली से गुजरना नहीं चाहता। वह सिवान का चक्कर काटकर जायेगा। पहचान की हद से परे, स्याही में डूबा, बेशिनाख्त।'[4]

आदर्श, उत्साह और सपने लेकर देवनाथ डॉक्टरी पासकर गांव में सेवा करने के लिए आता है, परन्तु बाप से मनमुटाव और पटनहिया भाभी के साथ जोड़े गये सम्बन्ध से आहत होकर, वह भी करैता छोड़कर कस्बे में डॉक्टरी करने चला जाता है।

विपिन भी इसी तरह के सपने देखते हुए आया था, परन्तु बचपन की साथी पुष्पा का, विपिन की ही निर्णय-भीरुता के कारण, कहीं और विवाह हो जाता है, अतः विपिन भी करैता में एक वर्ष रहकर गाजीपुर के डिग्री कॉलेज में इतिहास की प्राध्यापकी के लिए फॉर्म भरता है। बाद में दयाल महाराज भी विपिन के साथ चले जाते हैं।

आदर्शवादी खलील मियां ईमानदार तबीयत के आदमी हैं। हिन्दू-मुसलमान में भेद नहीं करते। हिन्दू-मुसलमान दोनों ही सम्प्रदायों के त्योहारों को खुशी से मनाते हैं। बेटे सदरुल के बुलाये जाने पर भी पाकिस्तान नहीं जाते—'काफिर मुझे सता रहे हैं, ऐसा कहना सरासर झूठ होता। बेटे, मुझे लगा कि यह धरती के साथ दगा करना है।

---

1. डॉ० शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० 82
2. वही, पृ० 513
3. वही, पृ० 179
2. वही, पृ० 532

झूठी तोहमत लगाकर वतन को छोड़ना सबसे बड़ा कुफ्र है। मैंने बिलकुल पक्का कर लिया कि कुछ भी हो जाये, मैं करैता छोड़कर नहीं जाऊंगा।'[1]

किन्तु देबू चौधरी अपने पास रेहन रखे खलील मियां के 20 बीघे खेत गैरकानूनी ढंग से हड़प लेते हैं। खलील मियां भी विपिन, देवनाथ और शशिकांत की भांति पूरी तरह निराश और हतोत्साहित करैता से अपने ससुराल जाने को विदा हो जाते हैं।

कल्लू-द्वारा बचपन के अनैतिक सम्बन्धों से उत्पन्न नपुंसकता, बुझारथ सिंह का गांव की बहू-बेटियों से नाजायज सम्बन्ध रखना तथा मुंशी जवाहिरलाल का सेवा के नाम पर लड़कों से नाजायज सम्बन्ध रखना करैता की पतनशील सामाजिक परिस्थितियों का परिचायक है। शशिकांत द्वारा देख लिये जाने पर बेहयाई से भरे मुंशी जवाहिर के इस कथन से करैता के शैक्षिक स्तर का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है—'मैं लाचार हूं। बीमार आदमी ठहरा। घर से कितना दूर रहता हूं। फिर मैंने किया ही क्या। लड़के हैं। मास्टर लोग जाने कितनी सेवायें लेते रहते हैं। मैंने भी थोड़ी सेवा ले ली, तो इससे क्या बिगड़ गया।'[2]

डोमन की लड़की सुगमी चमारिन का सुरजू सिंह राजपूत के साथ गुमटी में पकड़ा जाना करैतावासियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना है। आस-पास के बारह गांवों से चमार इकट्ठा होते हैं। इससे पहले भी जैपाल सिंह के जमाने में चमारों ने मजदूरी बढ़ाने के लिए विरोध किया था, परन्तु ठाकुरों ने चमारों को बुरी तरह पीटा, उनकी स्त्रियों को बेइज्जत किया। इसकी प्रतिक्रिया में चमार एकजुट हुए, परन्तु जैपाल सिंह के सामने पहुंचते ही उल्टे जी-हुजूरी करने लगे साथ ही देवकिसुन-जैसे विद्रोहशील युवक को भी माफी मांगने के लिए राजी कर लिया।

निम्न जाति के कहे गये हम लोगों के जीवन को लेकर उपन्यास में इस बात को गहराई से अंकित करने की पूरी चेष्टा की गई है कि वास्तव में 'सहते-सहते' यह कौम अब वहां पहुंच गई है, जहां उसे जहालत में भी आराम मिलने लगा है। हालांकि उनकी विद्रोह-भावना को भी चित्रित किया गया है। इस बार सुगनी और सुरजू सिंह वाले प्रसंग में चमार अपने ऊपर हुए जुल्मों और अत्याचारों से निजात पाना चाहते हैं। उनकी यह सुगबुगाहट इस रूप में व्यक्त होती है—'बटोर ने सर्वसम्मति से फैसला किया कि सुरजू सिंह कल सुबह सुगनी को पत्नी समझ कर खुद आकर चमरौटी से ले जायें, नहीं कल शाम को चमार लोग सुगनी को ले जाकर उनके घर बैठा आयेंगे।'[3]

सुगनी का बाप डोमन फाके मारने की नौबत से बचने के लिए बस अन्याय का विरोध नहीं करना चाहता था, परन्तु उसकी घरवाली की हिम्मत ने बटोर की दिशा ही बदल दी। चमारों और ठाकुरों में लट्ठबाजी होती है। चमरौटी के स्वरूपभगत की मृत्यु हो जाती है तथा तीन-चार और भी घायल हो जाते हैं।

---

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० 273
2. वही, पृ० 463
3. वही, पृ० 608

चमार ठाकुरों के खिलाफ थाने में रिपोर्ट लिखा देते हैं। थानेदार कुछ लाभ की आशा लिए आता है, परन्तु पान-पत्ते का भी जुगाड़ न होने पर सुखदेव जी के पान-पत्ते उलटे चमारों से ही वसूलने का सुझाव देता है।

खलील मियां अंततः निराश होकर पत्नी के कहने पर बड़ी विवशता से करैता छोड़कर अपनी ससुराल जाने का मन बनाते हैं, परन्तु वहां भी उन्हें अपनी बदहाली का मजाक उड़ाये जाने की आशंका है। उस समय की मन:स्थिति को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने बड़े कौशल से दृश्य की योजना की है—

'वे आहिस्ता से चारपाई पर लेट गये। दीवालों के चप्पड़ उघड़ गये थे। एक तरफ कोने में मकड़ी ने भारी-सा जाला टांगे रखा था। तभी एक ललछौंही मकड़ी एक सिरे से दौड़ पड़ी। कोई कीड़ा फंस गया था शायद। झटके की वजह से समझ नहीं पाई और नीचे झूल गई। काफी नीचे से फिर ऊपर को हुमस चली। हाथों लम्बे तार कैसे वह मुख में पिरोती जा रही है। सारा फंदा खाकर वह फिर उसी ऊंचाई पर घाट में बैठ गई।'[1]

करैता के शोषित चमारों की सामाजिक स्थिति अत्यन्त कारुणिक और दयनीय है। उनके विरोध करने पर भी उनकी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आता। पहले सिर्फ जमींदार अत्याचार करते थे, परन्तु जमींदारी प्रथा के खत्म होने के बाद चमार छुटभइये नेताओं और पुलिस के उत्पीड़न का शिकार बनते हैं। उनकी दयनीय परिस्थितियों में कतई परिवर्तन नहीं आता। विरोध की चिंगारियां भभककर बुझ जाती हैं। इस प्रकार 'अलग-अलग वैतरणी' में एक विशिष्ट ग्रामांचल के बहुविध तथा आर्थिक-सामाजिक-उथल-पुथलभरे जीवन को एक विस्तृत पटल पर चित्रित किया गया है।

इस उपन्यास में अभिव्यक्ति के बिम्बात्मक प्रयोगों से भाषा अधिक सम्प्रेषणीय बन गई है—

'गांव के बाहर तो जैसे कुहरे का पहाड़ झूल रहा है। पूरा ताल इस विराट सफेद महाजंतु के मुंह में समा गया था। मीटे के पेड़, नीमगांछ कनेर और पाकड़ सभी धुंध में छिप गये हैं।'[2]

डम्प, मरडर, डिरेल, सिपेसल, माडर्न प्रिंट इत्यादि अंग्रेजी के कुछेक शब्दों ही नहीं, बल्कि मंसूबों, अगरचे, ज़िक्र ज़बान, क़स्द, शोखी, रंदेबाजी, ग़मग़ीन, ग़लीज़, इफ़रात, ज़हीन, शाहखर्च, तरद्दुद, ग़फ़लत, अलनाहक़, आफ़त मासूदगी इत्यादि उर्दू के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो एक छोटे-से वाक्य में ही उर्दू के कई शब्द एकसाथ मिलते हैं—'तुम्हारी तारीफ़ के ये अल्फाज ही तुम्हारी बदनसीबी के बाइस हो गये।'[3] उपन्यास में हलकान, कथापट, मनसायन, कौआरोर, अनतै, कबुलवाय, बहसाये, जेबा से, अनखा-अनखाकर, बेराम-जैसे भोजपुरी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

---

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० 542
2. वही, पृ० 469
3. वही, पृ० 179

'गरीब का घर जरे', 'गुंडा हाथ सेंके', 'जहसन देश', वहसन मेस, मियां को न पाऊं, तो बीबी को बकोटूं, चिरई की जान जाये, खवैया को स्वाद नहीं, बड़ बतियाये, चमार लतियाये, जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस, जइसा देवता, वइसी पूजा इत्यादि ठेठ आंचलिक मुहावरे भाषा को सजीवता प्रदान करते हैं। गालियों का छिटपुट प्रयोग भी देखने को मिलता है—सात पुश्त को गंगा के दहाने में डारूं, हरामी का पिल्ला, मउगढ़, नमकहराम, कमीना, मुंहझौंसा, मक्खर में नाव, तेरी जवानी में डोला परे, आग लगे।

उपमा—'पर सुरजितवा के गले की मिठास ही कुछ और है। एकदम ऊचखक की अंगारी, हां बीसू के गले में भी मिठास है। बाकी पकउल गन्ने में ऊ बात कहां है।'[1]

लोकगीतों में लेखक ने भोजपुरी बोली का प्रयोग किया है।

पुष्पा और विपिन के बचपन का प्रेम विवाह में परिणत नहीं हो पाता। पुष्पा की शादी कहीं और तय हो जाती है। पटनहिया भाभी के द्वारा पुष्पा की विदाई के समय गाया गीत पुष्पा और विपिन दोनों की मन:स्थिति को अत्यण्त मार्मिक ढंग से उद्घाटित करता है—

'उनके अंखिया से लोरवा गिरत होईहिं ना।
उनके गजमोती अंचरा मिजत होईहिं ना।
फूल परिजतवा झरत होईहिं ना।
लरिकइयां के नेहिया टूटत होईहिं ना।'

लचिया— 'अरे एं एं एं !
अगिया लागे गलहार नजर परे मोती लरी।
तोहरो ले पिया मोर सुघर गुलाबे के फूल हरी।
कटबो चननवां के गाछि पलंगिया उसाहणि हो।
ताही पर पिया के सुताइबि, बेनिया डुलाइबि हो।'

पुष्पा-द्वारा विपिन की और पटनहिया भाभी-द्वारा कनिया को लिखे गये पत्र-शैली के भी दर्शन होते हैं।

उपन्यास का प्रारम्भ ही वर्णनात्मक शैली से होता है।

वातावरण, घटनाओं, प्रकृति, मेले-तमाशे, गरीबी, पानी के अभाव की समस्याओं का चित्रण हो या चैत की सुबह : क्वार-कातिक के महीने, जनवरी में मकर संक्रांति या बैशाख के महीने का वर्णन हो, उपन्यास में वर्णनात्मक शैली के दर्शन ही अधिक होते हैं—

'नवम्बर का महीना एक अजब दिलफरेब महीना होता है। रंगारंग क्यारियों का महीना। सुबह के समय गांव के बाहर किसी भी स्थान में खड़े हो जाइए, आपको लगेगा कि शतरंज के विसातखाने पर खड़े हो गए हैं। एक तरह की क्यारियां, नाना

---

1. शिव प्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी, पृ० 100

तरह की फसलें। कहीं छोटी-छोटी पतली नोंकदार पत्तियों वाले गेहूं के खेत, तो कहीं मझांवरी पत्तियों वाले चने और तीसी के पौधे। कहीं चिपटी गोल-गोल बीड़वीं पत्तियों वाले मटर के खेत, तो कहीं गंधीले, कांटेदार चौड़े-चौड़े पत्तों वाले सरसों के गोटे। इस पूरे सिवान की समरसता को चुनौती देते ईख के असिपत्र वन तथा ज्वार और बाजरे के उठती पहाड़ियों-जैसे खेत। वह पूरा सिवान जैसे रंगीन कलावत्तू की ओढ़नी है, जिसे अपने सीने पर झरझराती धरती गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है।'[1]

इसके अलावा इस उपन्यास में पूरे समय पाठक को बांधे रखने की क्षमता की है। इसकी शैली की प्रशंसा करते हुए डॉ० विजयदेवनारायण साही कहते हैं—'लेकिन बिना उलझाये सात सौ पृष्ठों तक सलीके से किस्सा कह सकना जहां इतना अलभ्य हो, वहां यह सुथरापन भी मन को खुश करता है।'[2]

आधुनिक हिन्दी उपन्यास, अलग-अलग वैतरणी, के शिल्प संगठन में एक विशालकाय उपन्यास और नाना कथाओं के समावेश होने से ढीलापन है, जो कि सामान्य प्रकार के उपन्यासों की एक कमजोरी और आंचलिक उपन्यास की एक विशिष्टता है। सभी कथाएं करैता को समग्रता में उभारती हैं अतः उनके सूत्र एक-दूसरे से न जुड़ने पर भी, इन कथाओं का समायोजन आंचलिक उपन्यास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आधा गांव

'आधा गांव' राही मासूम रजा का ग्रामांचल (गंगोली) पर आधारित एक उल्लेखनीय आंचलिक उपन्यास है। हिन्दी साहित्य का यह अकेला ही ऐसा उपन्यास है, जिसमें लेखक के द्वारा गंगोली में गुजरने वाले समय की दास्तान के द्वारा मुस्लिम सम्प्रदाय के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं को उजागर किया गया है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में राही मासूम रजा एक ऐसे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने मुस्लिम सम्प्रदाय से स्वयं भी सम्बद्ध होने के कारण इस समुदाय के जीवन को पूरे विस्तार और प्रामाणिकता से चित्रित किया। बाद में अब्दुल बिसमिल्लाह ने भी अपने 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में यह काम किया है।

'आधा गांव' मुख्यतः दो टोलियों—उत्तर पट्टी और दक्खिन पट्टी में विभक्त है। दोनों पट्टियों में होड़ लगी रहती है, मगर गंगोलीवासियों को अपनी गंगोली से बड़ा प्रेम है। तन्नू के गंगोली प्रेम का एक उदाहरण इस प्रकार है—'और मुझे शर्म भी नहीं आती। और शर्म आये क्यों। गंगोली मेरा गांव है। मक्का मेरा शहर नहीं है। यह मेरा घर है और काबा अल्लाह मियां का। खुदा को अगर अपने घर से प्यार है, तो क्या वह

1. शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी : पृ० 355-356
2. डॉ० विजयदेवनारायण साही : अलग-अलग वैतरणी : समीक्षा

माजल्ला यह नहीं समझ सकता कि हमें भी अपने घर से उतना ही प्यार हो सकता हैं।'[1]

यों गंगोली में रहते तो हिन्दू और सुन्नी मुसलमान भी हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। लेखक ने मुख्यत: मुस्लिम सम्प्रदाय के शीया मुसलमानों के जीवन पर ही प्रकाश डाला है। लेखक की इस उपन्यास के बहाने यह भी कोशिश दिखाई देती है कि हिन्दू और मुसलमानों का आपसी व्यवहार सद्भावपूर्ण हो। एक हिन्दू चमार के इस कथन में हिन्दू-मुस्लिम एकता की झलक है—'अरे, राम-राम ! आप लोग तो लिखल-पढ़ल बुझाताड़ीं। तमी सोची कि हमनी के जीयत कोउ मियां लोगन की बहन-महतारी की तरफ देख सकेला ?'[2]

शिया और सुन्नी, दोनों ही मुस्लिम सम्प्रदाय के हैं, लेकिन इन दोनों के बीच मेल-जोल न होकर, हिन्दू और मुसलमानों में प्रेमभाव है। फुन्नन मियां कहते हैं—'हां-हां, त हुए बा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो, जैसे हिन्दुए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरमजदगी कीहन कि हजरत अली का ताबूत न उठे देंगे, काहे को कि ऊमें शिया तबर्रा पढ़त हुए, त परसरमुआ उधम मया दीहन कि ई ताबूत उट्ठी और ऊ ताबूत उठा।'[3]

अलीगढ़ से आये हुए छात्र गंगोली के मुसलमानों को भड़काते हैं कि नमाज के बचाव के लिए पाकिस्तान बनना जरूरी है, क्योंकि हिन्दुओं पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी राज्य समाप्त होते ही हिन्दू मुसलमानों को खा जायेंगे। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बंटवारे से गंगोलीवासियों पर पड़ा प्रभाव भिन्न उद्धरण में देखा जा सकता है। हुसैन को मानने वाले शिया मुसलमान हिन्दुस्तान के पक्ष में है—'यह मुला जिन्ना कैसा शिया है, कि हिन्दुस्तान के खिलाफ है।'[4] और कांग्रेस को हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बंटवारे का कारण मानकर सैदानियां कोसती हैं—'अरे, ई कांग्रेस माटीमिली को कोढ़ हो जाये। इसकी मिट्टी खराब हो।'[5]

उपरोक्त कथनों में पाकिस्तान के बनने के दबावों के बावजूद भारतीय मुसलमानों की देशनिष्ठा की झलक मिलती जरूर है। हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों के मामले में इस प्रकार के सकारात्मक दृष्टिकोण को हर हाल में सराहनीय ही कहा जायेगा। इस सम्बन्ध में डॉ० इन्दुप्रकाश पाण्डेय का कहना है—'राही इसी देशभक्ति को और मुसलमानों की वफादारी को हिन्दी के माध्यम से हिन्दुओं तक पहुंचाना चाहते हैं, जिससे भारत में रहने वाले मुसलमानों और हिन्दुओं में परस्पर समादर उत्पन्न हो और ये दोनों सम्प्रदाय

---

1. राही मासूम रजा : आधा गांव, पृ० 256
2. वही, पृ० 245
3. राही मासूम रजा : आधा गांव, पृ० 192
4. वही, पृ० 71
5. वही, पृ० 337

आपसदारी के साथ रहने लगे।'[1]

गंगोली गांव का नाम गंग राजा के नाम पर रखा गया है। आर्थिक संसाधनों की दृष्टि से यह एक निहायत पिछड़ा हुआ गांव है। इसके कार्य-व्यापार प्रायः बाहरी दुनिया से बेखबर अपनी ही विशिष्टताओं—मोहर्रम, मजलिस, महफिल, पेशवानी, मरसिया, नौहा, मन्नत, शादी-ब्याह तथा अनैतिक सम्बन्धों तक सीमित हैं। यही क्षेत्रीय वैशिष्ट्य इस उपन्यास में आंचलिकता का कारण बनता है। एक समय तक के गंगोली के पिछड़ेपन का प्रमाण इस उद्धरण में देखा जा सकता है—

'गंगोली के बहुत-से लोगों ने रेल नहीं देखी थी, क्योंकि स्टेशन गंगोली से कोई दस मील पर है और गाजीपुर बारह मील पर। इसलिए लोग ज्यादातर इक्कों से सफर किया करते थे और चूंकि मियां लोगों के खयाल में दुनिया गाजीपुर की कचहरी के बाद खत्म हो जाती थी, इसलिए भी उन्हें नहीं मालूम था कि दुनिया में क्या हो रहा है और क्या नहीं हो रहा है।'[2]

···लेकिन उसी गंगोली में, कालान्तर में, सईदा अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में पढ़कर, वहीं तीन सौ रुपये प्रतिमास वेतन पर टीचरी करने लगती है, तो अशिक्षित गंगोली-वासियों ने उसे बदनाम करने के लिए उस पर तरह-तरह के लांछन लगाये। उनकी चिंता गंगोली में पसरे अशिक्षा के वातावरण से ज्यादा औरत की सीमाओं और उसकी उन गतिविधियों की है, जो उनके उसूलों को चोट पहुंचाते हैं। औरत का पढ़ना-पढ़ाना भी उन्हें उसके चरित्र को बिगाड़ने वाला दिखाई पड़ता है।

लेखक का 'अपनी गंगोली' से अटूट प्रेम है। वह उसे गांव नहीं, वरन् एक घर के रूप में महसूस करता है। गंगोली में गुजरा हुआ वक्त, गंगोली की मिट्टी और उससे जुड़ी हुई यादें उसे उपन्यास लिखने को प्रेरित करती हैं। लेखक स्वयं मासूम नामक एक पात्र के रूप में इस उपन्यास में उपस्थित है और इसके लिए उसने 'मैं' की (आत्मकथात्मक) शैली अपनाई है, ताकि कहानी लेखक से दूर न जा सके और वह जब चाहे, उसे छू ले। वह गंगोली के अतीत और वर्तमान की गवाही देता-सा दिखाई पड़ता है।

उपन्यास में भारतवर्ष की आजादी से कुछ वर्ष पहले से लेकर कुछ वर्ष बाद तक की कहानी है। गंगोलीवासियों को पाकिस्तान बनने से उतना फर्क नहीं पड़ा, जितना जमींदारी-प्रथा खत्म हो जाने से। इससे 'आधा गांव' के निवासियों की आर्थिक स्थिति एकदम उलट-पुलट हो गई। जमींदारी उन्मूलन से पहले उस गांव के जमींदार बड़े ऐशो-आराम से रहते थे, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् जमींदारों की कमर ही टूट गई है। फुस्सू मियां को जूतों की दुकान खोलनी पड़ती है। फुन्नन मियां को चमार परशुराम एम० एल० ए० के साथ रहकर अपनी जीविका चलानी पड़ती है। पहले के

1. डॉ० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय : 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का जीवन-मरण', पृ० 234
2. राही मासूमरजा : 'आधा गांव', पृ० 62

सम्पन्न परिवार अब विपन्न हो गए हैं और विपन्न परिवार सम्पन्न। आर्थिक दृष्टि से मजबूत हो जाने से निम्न जाति के लोग अब फुन्नन मियां को कुछ नहीं समझते। जुलाहिन नईमा — बी वाजिद मियां की गरीबी पर प्रहार करती है—

नईमा—'जी का करबे तें···'

वाजिद मियां—'ऐ जुलाहिन। तोरा का करेंगे। बाकी हम्माद की टंगिया चीर देंगे।'

नईमा-जी—'तेरे बाप की सरकार है ना, माटी मिले। दो बखत की रोटी तो जुड़ती ना। बाकी जबान हाथ-भर की है।'[1]

पाकिस्तान बन जाने के बाद गंगोली में साम्प्रदायिक बिलगाव उत्पन्न हो जाता है, इसलिए यहां के लोग गंगोली वाले कम और हिन्दू-मुसलमान ज्यादा लगने लगे हैं। बंटवारे के बाद परिवार बिखर जाते हैं। कुछ मुसलमान यहीं रह जाते हैं, कुछ पाकिस्तान चले जाते हैं। इस बंटवारे से हिन्दू-मुसलमानों के बीच ही वैमनस्य उत्पन्न नहीं होता, बल्कि एक ही परिवार में आपस में बिलगाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बूढ़े हकीम सैयद अली कबीर की दृष्टि में—'ई पाकिस्तान त हिन्दू-मुसलमान को अलग करे को बना रहा, बाकी हम तो ई देख रहे हैं कि ई मियां-बीबी, बाप-बेटा और भाई-बहन को अलग कर रहा।'[2]

गंगोली हिन्दुस्तान में ही रहती है, परन्तु यहां पर अकेलापन छा जाता है—'कायनात भांय-भांय करने लगी, जैसे दूर-दूर उनके सिवा कोई मौजूद ही न हो···गरज कि आजादी के बाद कई तरह की तनहाइयां भी आयीं। बिस्तर की तनहाई से लेकर, दिलों की तनहाई तक। उत्तर और दक्खिन पट्टी में हर फर्द यक्लख्त अकेला हो गया। बुढ़ापा, जवानी और बचपन, सुहाग, बेवगी, दोस्ती, दुश्मनी और पट्टीदारी। हर कैफियत अकेली थी। हर जज्बा तन्हा था।'[3]

'आधा गांव' में अनैतिक सेक्स-सम्बन्धों की भरमार है—'ऐसी शैरी औरत घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियां का कोई ऐसा खानदान हो, जिसमें कलमी लड़के-लड़कियां न हों। जिनके घर खाने को भी नहीं होता, वे भी जिसी-न-किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवारों का शौक पूरा ही कर लेते।'[4]

इन अनैतिक सम्बन्धों की इन्तिहा सब हो जाती है, जब हम्माद मियां का लड़का मिदाद हम्माद मियां और मेहरुनिया नाइन से उत्पन्न पुत्री सैफुनिया से शादी कर लेता है, क्योंकि दोनों ही हम्माद मियां की सन्तान हैं। कुलसूम भी कहती है—'हज जियारत करके आ गए हैं, बाकी बेटा-बेटी से बियाह कर लिहिस त कुछ ना बोले। ए बेटा, त का अल्लाहो मियां उनकी कोठिया से रोब खा जइहैं?'[5]

---

1. डॉ० राही मासूम रजा : आधा गांव, पृ० 299
2. वही, पृ० 18-19
3. वही, पृ० 217

उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक है, जिसकी अनुगूंज को भारत के 'आधा देश' रह जाने के हादसे तक भी अनुभव किया जा सकता है; क्योंकि देश-विभाजन की टूट के नतीजों की नेपथ्य के रूप में भूमिका साफ दिखाई पड़ती है। यों कथावृत्त के तौर पर लगभग आधी गंगोली को ही इस उपन्यास में मुख्य रूप में लिया गया है।

'आधा गांव' एक चरित्रबहुल उपन्यास है और इसके लगभग अनगिनत लगते पात्रों की एक लम्बी फेहरिस्त पेश की जा सकती है। इस 'आधे गांव' के सभी निवासी उपन्यास में अलग-अलग किस्म की भूमिका निभाते हैं—'इन पात्रों में संस्कारगत, वातावरणागत और शिक्षागत मानसिक स्तरों पर भिन्नता है फिर इसके अपने व्यक्तिगत गुण-अवगुण हैं, मनोवृत्ति और प्रवृत्ति हैं।'[1] पात्रों की इस बड़ी भीड़ में से कोई ऐसा पात्र उभरकर नहीं आता, जो नायक का स्थान ले सके। नायक के तौर पर इसमें 'समय' की अवधारणा काम करती दिखाई पड़ती है, जिसका बाद में डॉ० रजा ने अपने बहुचर्चित धारावाहिक 'महाभारत' में भी उपयोग किया है। उपन्यास के चरित्र 'समय' की धुरी पर चाक के बरतनों की भांति घुमाए गए अनुभव होते हैं। ऐसे में 'आधा गांव' के नायक के मामले में यह कथन सटीक ही जान पड़ता है—'समय ही 'आधा गांव' का नायक है और इसी की गतिविधि से इस उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है।'[2]

'आधा गांव' के लगभग सभी चरित्र, संख्या में विशाल होते भी, लेखक की संवेदना से नाभिनाल सम्बन्ध रखते प्रतीत होते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता है। हालांकि इतना पूरा आभास मिलता है कि उपन्यास में सिर्फ वास्तविक ही नहीं, बल्कि काल्पनिक जगत-जिन्दगी के पात्र भी हैं, किन्तु लेखक उन्हें इस प्रकार घुला-मिलाकर यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है—'काल्पनिक पात्र भी बेतकल्लुफ हो गए हैं।'[3]

'आधा गांव' में प्रकृति के चित्रण को वैसी प्रधानता नहीं दी गई है, जैसी कि रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' या डॉ० शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में, लेकिन फिर भी डॉ० रघुवीर चौधरी के इस निष्कर्ष पूरी तरह सहमत नहीं ही हुआ जा सकेगा कि 'आधा गांव' की भाषा' अंचल की प्रकृति पर कविता करते रहने की रुमानी दृष्टि का निहायत त्याग सिद्ध करती है।'[4]

जाहिर है कि 'निहायत त्याग' से डॉ० रघुवीर चौधरी का आशय 'सम्पूर्ण त्याग' से ही है, जबकि प्रकृति-चित्रण के अनेकानेक मनोहर दृश्य 'आधा गांव' में बिलकुल मौजूद है। उदाहरण के तौर पर 'आकाश कार्तिक के आसमान की तरह धुला-धुला-सा था और सितारों से यों पटा हुआ था, जैसे चैत में महुए की सुगन्ध से धरती पट जाती है। जमाने

---

1. जवाहरसिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० 135
2. डॉ० हरदयाल : आधा गांव, समय की कथा
   पृ० 137, सम्पादक—डॉ० रामदरश मित्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त
3. डॉ० राही मासूम रजा : आधा गांव, पृ० 7
4. डॉ० रघुवीर चौधरी, 'आंचलिकता, वैश्विकता और आधुनिकता', 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 58, सम्पा० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त

इमामबाड़े के आंगन में लगे हुए कदम्ब की शाखें भी फूलों की अनगिनत गेंदें लिए मुस्करा रही थीं और हवा से चुहलें कर रही थीं और कच्ची आयु की सालियों की तरह बहनोई की राह देख रही थीं।'[1]

'आधा गांव' की परिवेश मुस्लिमबहुल है। लेखक ने इस उपन्यास में हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा ही नहीं, बल्कि शैली का भी प्रयोग किया गया है—'आसिया की छोली दक्खिन पट्टी के बड़े फाटक में उतरी। वहां नईमाबी और उनकी बहन कुवरा के सिवाय और कोई न था। जाहिर है कि आसिया-जैसी भरी जवानी हम पैबन्दियों की मेहमान नहीं हो सकती थी। चुनांचे वह अग्गू मियां के खाली घर से होती हुई फुस्सू मियां के घर चली गई।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आधा गांव' में जहां-जहां वार्तालाप है, वहां प्रायः भोजपुरी हिन्दी और उर्दू का बहुत सुन्दर मिला-जुला प्रयोग हुआ है—'हम तई डॉक्टरी शुरू करके फंस गए। हकीम साहेब और उन्माद त अब हमारा सलामो लेवे के सादार ना हैं। अब आप बताइए कि हम घर-घर ई कहे त ना न गये कि हे लोगों, हमरे कि हां इलाज कराये अवत जा। क्या जमाना है। नए-नए मरज निकल आए हैं। हकीम साहेब के पास त ऊहै हकीम लुकमान के नुस्खे चल रहे। त भला कोई कइसे अच्छा होय। एक दिन हम्मे बुला के कहिन की तू गिरिफ्तार हो जइहो। अउर पता नहीं कि अउर का-का कह डालिन।'[3]

रस्सी जल गई, पर बल नहीं गया, बात का टूंगना, आंच का आंवा बन जाना, जीती मक्खी कैसे निगल ली है, जबान हाथ-भर इत्यादि मुहावरों के अतिरिक्त लोकगीतों का प्रयोग भी मिलता है—

शादी-ब्याह के अवसर पर गाया जाने वाला गीत—

बड़ी धूम-गजर से आया री बना,
कुम्हार की गली हो आया री बना।
अपनी अम्मा नचाता आया री बना,
सब लोग कहैं कुम्हार का बना।
बड़ी धूम-गजर से आया री बना,
महता की गली हो आया री बना।
अपनी दादी नचाता आया री बना।
सब लोग कहैं महतर का जना।
बड़ी धूम-गजर से आया री बना।'[4]

---

1. डॉ॰ राही मासूम रजा : 'आधा गांव', पृ॰ 48-49
2. वही, पृ॰ 104
3. वही, पृ॰ 267
4. वही, पृ॰ 161-162

विवाह के अवसर पर मिरासिनों द्वारा दी जाने वाली गाली—

'कोठे से लम्बा हमारा बना
बन्ने की अम्मा बांस बरेली
बन्ने का अब्बा छैनी मुर्गा हमारा बना
कोठे से बड़ा लम्बा हमारा बना···।'[1]

'बोली बोले ना।
तोरी बोली सुने कोतवाल। बोली बोले ना···
वड़की बहिनयां का पांच रुपया।
छुटकी बहिनि अनमोल। बोली बोले ना···।"[2]

'आधा गांव' में तेरे हाथ टूटें, माटी मिले, झाड़ू मारे, हरामजादे, निखौंदी, सड़ें, साले, मरकीमोमी, खन के गाड़ देंगे, जनाजा निकले, दिमाग-चुये, जवानी पीटे, जबान सड़ जाना, मुंहवा झुलस देंगे आदि तो कुछ भी नहीं है, मादरजाद, अश्लील गालियों की जगह-जगह भरमार है। 'आधा गांव' के प्रकाशक का तो कहना है—'यदि 'आधा गांव' से गालियां निकाल दी जायें तो उसकी रोचकता आधी रह जायेगी।' लेकिन डॉक्टर हरदयाल इस उपन्यास की भाषा की प्रशंसा तो करते हैं, मगर गालियों के प्रचुर प्रयोग से वे सहमत नहीं होते। उनका यह कहना सच ही है कि—'यदि 'आधा गांव' में गालियों की भरमार न होती, तो उपन्यास का न तो प्रभाव कम होता और न ही उसकी कोई कलात्मक हानि होती। वैसे, राही मासूम रजा की भाषा है बड़ी जीवन्त और प्रवाह-पूर्ण।'[3] कुछ भी हो 'आधा गांव' की कच्ची-कच्ची मादरजाद गालियां गले से नीचे नहीं उतरतीं। स्वयं डॉ० रजा ने अपने बम्बई के एक व्याख्यान में यह तर्क दिया है कि—'साहित्य में कुछ भी अश्लील नहीं होता।' ···लेकिन साहित्य स्थान, समय और पात्र की शर्त से बाहर नहीं। यह तर्क साहित्य में अश्लीलता की निर्बंध समाविष्टि के चोर-दरवाजे भी खोल सकता है। इस विवाद के चलते ही 'आधा गांव' को विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम से हटाना भी पड़ा था।

'आधा गांव' में आत्मकथात्मक शैली, रिपोर्ताज शैली और वर्णन-शैली के विषय में डॉ० रामदरश मिश्र कहते हैं—'उपन्यास का कथ्य सशक्त है, किन्तु उसकी रिपोतार्ज शैली अराजक रूप से तथ्यों और दृश्यों को ताबड़तोड़ बिखेरती चली जाती है, कथा नहीं बनने पाती और उपन्यास की पकड़ ढीली पड़ती जाती है।'[4]

---

1. डॉ० राही मासूम रजा : आधा गांव, पृ० 163
2. वही, पृ० 266
3. हरदयाल : आधा गांव : समय की कथा. हिन्दी आंचलिक उपन्यास, पृ० 243, सं० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त,
4. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास, एक अंतर्यात्रा, पृ० 243

उपरोक्त उद्धरण में इस उपन्यास के शिल्प पर भी प्रकाश पड़ता है। बिखरी हुई कथा, अनगिनत पात्रों के जमघट और शैलीगत बिखराव के कारण 'आधा गांव' का शिल्प गठा हुआ नहीं है, लेकिन राष्ट्रीय और सामाजिक तथा हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के सवालों को यह उपन्यास निश्चित रूप से, सृजनात्मकता के धरातल पर उठाता और इस प्रकार एक छोटे-से अंचल को बड़े सामाजिक परिदृष्य में बदलता है।

जल टूटता हुआ

'जल टूटता हुआ' रामदरश मिश्र का एक लगभग हर दृष्टि से सफल आंचलिक उपन्यास है। इस उपन्यास के लिए मिश्रजी ने जो भू-भाग चुना है; वह गोरखपुर जिले के गौरां और राप्ती नदियों के कछार-अंचल में बसा तिवारीपुर गांव है। कछार-अंचल पर इससे पूर्व मिश्र जी 'पानी के प्राचीर' उपन्यास लिख चुके थे, जिसमें स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व की कथा है। 'जल टूटता हुआ' उपन्यास में उन्होंने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की कथा ली।

स्वयं लेखक ने 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में इन दोनों उपन्यासों को 'कछार अंचल का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध' कहा है। इस कछार-अंचल की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हुए मिश्रजी कहते हैं—'यह भू-भाग चारों ओर से नदियों से घिरा हुआ है—यह बीहड़ कछार है। आज भी आधुनिक सुविधाओं से काफी हद तक वंचित। इस भू-भाग की प्राकृतिक स्थिति और उससे प्रभावित जीवन की वास्तविकताएं इसे एक विशेष चरित्र प्रदान करती हैं। चरित्र की यह विशेषता मेरी सर्जनात्मकता को चुनौती देती है। इस भू-भाग के चरित्र की विशिष्टता ही तमाम भूभागों को सामान्य भीड़ में उसे खोने से बचायेगी।'[1]

इस भू-भाग से लेखक का कितना जुड़ाव है, स्वयं लेखक के ही शब्दों में इस प्रकार है—'हमारे कछार अंचल की मिट्टी अपनी बेचैनी, अपनी बेबसी, अपनी प्राकृतिक सुन्दरता और भयावहता के साथ मेरे भीतर जीती रही और मैं इसे जीता रहा तथा मेरे स्वर इसी मिट्टी को रूपायित करने के लिए कोशिश करते रहे। मैं नहीं जानता कि ये स्वर इस कोशिश में कितने सफल रहे किन्तु मेरे लिए ये बहुत निजी हैं और निजी होने का अद्भुत सुख-सन्तोष देते रहे हैं।'[2]

कछार-अंचल से जुड़ी अपनी इस गहन अनुभूति को उपन्यास में यथासम्भव ज्यों-का-त्यों उतारने की मिश्रजी की कोशिश इसे एक यथार्थवादी रचना का स्वरूप प्रदान करती है।

उपन्यास का शीर्षक 'जल टूटता हुआ' प्रतीकात्मक है। गौरी और राप्ती पर बने

1. डॉ॰ रामदरश मिश्र : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ॰ 194
2. वही, पृ॰ 193

बांध के जगह-जगह टूटने के प्रतीक से मिश्रजी यह स्पष्ट करते हैं कि कछार-अंचल के लोग इस आशा और भ्रम में कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश की अव्यवस्था दूर होगी, परन्तु 15 अगस्त के उपलक्ष्य में हुए कार्यक्रम के पूरे प्रसंग से ही यह आशा ध्वस्त होती नजर आती है। सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी स्तरों पर भ्रष्टता, स्वार्थ, बिखराव उत्पन्न हो गया है। तिवारीपुर के निवासियों के जीवन में से रागात्मकता, मिल-जुलकर एक-दूसरे के दुःख-सुख में साथ देने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। मुसीबत में पट्टीदारों का साथ देने की जगह सब अपना-अपना स्वार्थ देखते हैं—'इस जवार का जीवन भी तो जल ही है, लेकिन पहले एक साथ बहता था, बाढ़ में उमड़ता था, एक साथ गर्मी में सूखता था, एक था ' बांध बंध रहे हैं, लेकिन पोख्ता नहीं, जो जल को संयत कर एक दिशा में प्रवाहित करें और उसमें से शक्ति उजागर करें, बांध जगह-जगह दरक-दरक रहे हैं और जल टूट रहा है, टूट रहा है।'[1]

'जल टूटता हुआ' में एक शोषक और एक शोषित वर्ग है। शोषक वर्ग के प्रतीक जमींदार महीप सिंह और शोषित वर्ग के तिवारीपुर के गरीब, मजदूर और किसान हैं, जिनका प्रतिनिधित्व सतीश, कुंजू और जगपतिया करते हैं। शोषक और शोषित वर्ग का संघर्ष ही इस उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है। सतीश महीप सिंह के यहां उगाही का काम करता है। शोषित वर्ग का पक्षधर होते हुए भी जगपतिया की तरह साहसपूर्वक महीप सिंह का विरोध नहीं कर पाता। जगपतिया जमींदारों के अन्याय के खिलाफ आवाज उठाता है और तबीयत ठीक न होने पर काम करने से इंकार करता है। जमींदार महीपसिंह उसे जाकर पीटते हैं, परन्तु—'आज जगपतिया निरीह होकर चिचिया नहीं रहा था, बल्कि लात-मुक्का खाकर भी, एक अजीब आक्रोश-भरी आंखों से बाबू साहब को देख रहा था, जैसे वह चेतावनी दे रहा था कि अब मैं उतना असहाय नहीं हूं; जितना तुम समझते हो। यह जो मैं सुन रहा हूं वह मेरी भलमनसाहत है, नहीं तो तुम्हें इसी सीढ़ी पर उठाकर फेंक सकता था।'[2]

महीप सिंह मारकर भी हार जाते हैं। इतना ही नहीं, जगपतिया मजदूरों और हलवाहों से वाजिब मजदूरी की मांग के लिए अपने नेतृत्व में हड़ताल भी करवाता है।

महीप सिंह, दीनदयाल-जैसे सम्पन्न लोगों के लिए स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी प्रसन्नतापूर्ण वातावरण बना रहता है, परन्तु शोषक वर्ग के कुचक्रों में जकड़े हुए गरीबों के लिए स्थितियां तब भी दयनीय बनी रहती हैं। जमींदार महीप सिंह के अवसरवादी चरित्र और स्वतंत्रता के बाद के बदलाव पर किया गया व्यंग्य इस प्रकार है—'जनता सोचती थी कि आजादी मिलने पर इन देशद्रोहियों को फांसी मिलेगी, इनकी जमीन गरीबों में बांट दी जायेगी; मगर इन वर्षों में कुछ और ही तस्वीर सामने आई। बाबू महीप सिंह कांग्रेस के मेम्बर हो गये। नेताओं की निगाह में कांग्रेस के प्रिय व्यक्ति। यही नहीं, जिला बोर्ड के सदस्य भी बन गये। पहले ब्रिटिश सरकार के अफसरों को फलों की

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 280
2. वही, पृ० 13

डलियां भेजते थे, अब आजादी के दिन स्कूल के बच्चों के बहाने कांग्रेस सरकार को लड्डू की डलियां भेजते हैं। मगर यह भी कौन समझे कि ये लड्डू भी सरकार की ओर से हैं, या महीप सिंह की ओर से। हो सकता है, जिला बोर्ड ने बच्चों को मिठाइयां बांटने के लिए पैसे दिये हों और महीप सिंह ने कुछ पैसे बचा भी लिये हों।'[1]

गरीबी, अभाव, आर्थिक विपन्नता, साधनहीनता और पिछड़ेपन से यह अंचल बुरी तरह ग्रस्त है। अस्पताल और डॉक्टर की समुचित व्यवस्था न होने की असुविधा से मास्टर सुग्गन की लड़की गीता और फेकू बाबा की बहू प्रसव-पीड़ा से मर जाती है। शहर से भी डॉक्टर लाने की सुविधा नहीं है— 'इतने बड़े इलाके में कोई डॉक्टर नहीं। ले-देकर दो-तीन वैद्य हैं, एक अपने धनपाल और दूसरे भाटपार के परसादी दुबे। वैद्य भी क्या हैं, बस दो-चार प्रकार की पुड़िया बना रखी हैं, जिसे हर मर्ज में देते हैं।'[2]

शैक्षिक, सामाजिक विकास में बाधक अन्धविश्वास व रूढ़ियों से गांव का सामाजिक जीवन दुष्प्रभावित होता है। स्वतंत्रता के बाद भी इनमें कमी नहीं आई है बल्कि पहले से भी अधिक चालाक और धूर्त होते जा रहे हैं—'वही अन्धविश्वास, भूत-पूजा, अकर्मण्य पुण्य-साधना। चमार-चमरिया पूजता है, ब्राह्मण धरम पूजता है, क्षत्री ही पूजता है, मुसलमान जिन्न पूजता है और सच तो यह है कि सभी एक-दूसरे के भूत को पूजते हैं—और केवल भूत पूजते हैं। चमरिया, डीह, बरम सभी भूत हैं और भूत-पूजा आज भी कम नहीं हुई है।'[3] उस पर गरीबी से लोग अलग बदहाल हैं। सतीश और मास्टर सुग्गन तिवारी-जैसे पढ़े-लिखे लोग तक जड़ता, अन्धविश्वास, रूढ़ियों, बाढ़ आदि के कारण गरीबी से ग्रस्त हैं। मास्टर सुग्गन तिवारी को तीन-तीन महीने तक तनख्वाह नहीं मिलती। पत्नी के चांदी के जेवर बेचने पड़ते हैं। उद्धरण के द्वारा उनके घर की खस्ता हालत का अन्दाज लगाया जा सकता है—'उसके पास कभी भी दो कुर्ते और तीन धोतियां नहीं हुई—पांच दिन पहले वह बाजार से कुछ मटर और जौ ले आया था, जो कल शाम को खत्म हो गया। बच्चों के लिए कुछ अंट भी गया, उसे और उसकी पत्नी को भूखे पेट सो जाना पड़ा।···खेत में कुछ हुआ ही नहीं, उधार कब तक देगा बनिया।'[4] सती महसूस करता है—'गरीबी सबसे बड़ा अपमान है। वह विद्या, तेज, बुद्धि सब छीन लेती है।'[5] इसके अलावा बाढ़ से भी आर्थिक स्थिति प्रभावित होती है—'खेत बोये जा रहे थे—यह समझते हुए भी कि बाढ़ आयेगी, सब डूब जायेगा, फिर भी खेत बोये जा रहे थे। गरीब लोग अपने खाने के अन्न को वेच-बेचकर नये बीज खरीद रहे थे—उन खेतों में डालने के लिए वहां बाढ़ आयेगी, सब कुछ लूट ले जायेगी।'[6]

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 7
1. वही, पृ० 45-46
2. वही, पृ० 167
3. वही, पृ० 2
4. वही, पृ० 41
6. वही, पृ० 207

इस उपन्यास में घटित घटनाएं अंचल के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों को प्रकाश में ही नहीं लातीं, वरन् स्थितियों में आये बदलाव को भी उद्‌घाटित करती हैं।

पंचायत के चुनाव के लिए दीनदयाल, सतीश, राजकुमार, कमलेश जी, जग्गू हरिजन इत्यादि बहुत-से लोग खड़े होते हैं। दीनदयाल चुनाव जीतने के लिए सभी हथ-कंडे अपनाते हैं। चमरौटी के हरिजनों को फोड़ते हैं, लाई-गट्टे की दुकान लगवाते हैं। कुंजू-बदमी को बदनाम करके अपना पक्ष मजबूत करना चाहते हैं, परन्तु सतीश और कुमार के कारण उनकी चाल सफल नहीं हो पाती। सुग्गन, महावीर, कुंजू, फेंकू को अपनी चाल में फंसाकर उकसाता है, जिससे रघुनाथ और फेंकू आपस में भिड़ जायें और दीनदयाल पर कोई आंच न आये।

सतीश ईमानदारी से राजनीति करना चाहता है। सतीश कांग्रेसी और कुमार सोशलिस्ट होते हुए भी एक हो जाते हैं; क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक है—दीनदयाल को हराना, किन्तु फिर सरपंच के चुनाव के समय दोनों में मनमुटाव हो जाता है। चुनाव सतीश का होता है, परन्तु इस चुनाव के समय राजनीति का भ्रष्ट रूप-राजनीति का मतलब यह कि सांप भी मरे और लाठी भी न टूटे।'[1] सामने आता है।

पन्द्रह अगस्त के कार्यक्रम में स्कूल के छात्रों और मास्टर सुग्गन तिवारी की गरीबी उघड़कर सामने आती है। बांध-निर्माण योजना के अनिश्चित होने के कारण सरकार की तात्कालिक योजना के अन्तर्गत गांव के चारों ओर ऊंची मिट्टी पटवाने में भी हैसियत वाले लोग धांधली करते हैं। सारा पैसा इंजीनियर, ठेकेदार बटोरते हैं—'गांव में भी जोरदार लोग अपने-अपने घरों के पास मिट्टी अधिक डलवा रहे हैं। गरीबों को कोई नहीं पूछता। चमरौटी की झोंपड़ियों के आस-पास थोड़ी-थोड़ी चटा दी गई है।'[2]

ब्राह्मण जाति का कुंजु और कहार जाति की बदभी समाज के विरुद्ध जाकर एक होते हैं।

'जल टूटता हुआ' में खसियाते, साड़ा-तौड़ी, कुकरौंछी, हाथ, अधिके, डूरते, मैली, अनमुन्हारे बोकरने, भभाकर, ससुर, लहरा, बहदूदी, छुरकी, अमोला, ढुंका, दोहर, ऐरन, सउख, काज-परिजन, जांगर, बटुली, मड़ई, गजदूत, पड़ौहे, पीपट, करियाकर, पेहम, भयहु. मूड़ी, तोंहछा, अनियाव, गुरसार, फेटवार, घंडरोज, पगुराती इत्यादि अंचल के ठेठ शब्दों के अतिरिक्त, मरकीननवा, रांड की तरह रोना, दहिजरवा का नाती, मेहरमऊगे इत्यादि गालियां और गले पड़ी है, देह टूटना, जवानी पायमाल करना, आन्हर कुकुर बतासे भूकै, दामन पकड़ना, कान फूंककर आग लगाना, सांप का पीना, बल के माते, गरहकटा, बछिया के ताऊ, छाती पर सांप लोटना, ढाक के तीन पात, आग थूकना, मरज की दवा आदि मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा का सशक्त रूप निखर आता है। हापुर-हापुर, सटर-सटर, मुल्हुर-मुल्हुर-जैसे शब्द भाषा की

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 20

1. वही, पृ० 208

सम्प्रेषणीयता को बढ़ाते हैं।

'रचनाकार कथ्य की सम्प्रेषणीयता को अधिक महत्त्व देता है। इसलिए भाषा में सर्वत्र सरलता और स्पष्टता, कथात्मकता और लयात्मक प्रवाह है। वह भाषा के परम्परित प्रयोगों का ही अभ्यस्त नहीं है, उगती हुई भाषा को भी पहचानता है। यह उगती हुई भाषा जनजीवन की है, उदास चेहरों की है, ठण्डी आस्थाओं और निरीह चेहरों की है। जीवन से इतने गहरे लगाव के कारण ही भाषा में जीवन की तपन मूर्त्त हुई है, सूखती हुई अंचल की संवेदनाओं का यथार्थ चित्रण हुआ है।'[1]

मिश्रजी अपनी भाषा-द्वारा दृश्य का एक बोलता-सा चित्र उपस्थित कर देते हैं—'खूब जोर की बारिश हो रही थी और तेज हवा चल रही थी। तपी धरती के अंग-अंग से भाप निकल रही थी। ऊपर से झरती झाड़ियां, धरती से निकलती अविरल भाप, एक अदृश्यता बिछ रही थी पूरे आकाश और धरती के बीच। कहीं कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। बस, पेड़ों और हवाओं के टकराने, पेड़ों की शिखाओं और डालियों के हहराकर झुकने, बूंदों की चोटों की आवाजों में सब डूब रहा था और रह-रहकर बिजली तड़-तड़ाती थी, तो अदृश्यता में डूबे हुए गांव, खेत, बगीचे, ताल-एकाएक धधक उठते थे सीमांतों तक।'[2]

लोकगीतों की तिवारीपुर की विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति में बहुत अहम भूमिका रही है। विदेसिया का दर्द-भरा गीत—

'हाथ-गोड़ फूलि जइहें, पेटवा निकरि जइहें,
बंगला का पानी है, खराब है विदेसिया।'

'जल टूटता हुआ' में परम्परा से चले आ रहे लोकगीतों ही नहीं, परिस्थितियों के अनुसार लोकगीतों का रचनात्मक प्रयोग भी देखने को मिलता है। इसके अलावा लोकगीतों के प्रयोग के विषय में लेखक का कथन है—'लोकगीतों का इस्तेमाल भी मैंने दुहरे-तिहरे अर्थों की व्यंजना के लिए किया है। यह प्रयोग भी अपने-आपमें कविता है, अर्थात् लोक-कविता का एक अन्य अर्थ-स्तर पर रचनात्मक प्रयोग।'[3]

उदाहरण के लिए कुंजू द्वारा सतीश और कुमार के पक्ष में राजनीति के प्रचार के लिये गाया गया गीत दीनदयाल-जैसे चोर-बेईमान के पक्ष को कमजोर करता है—

---

1. बी० एल० आश : उपन्यासकार—रामदरश मिश्र : सं० डॉ० वेदप्रकाश, अमिताभ, डॉ० प्रेमकुमार, पृ० 43
2. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 101
3. आधुनिक हिन्दी, उपन्यास सं० डॉ० भीष्म साहनी, डॉ० रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, पृ० 201

'कि अइहो लोगवा
जुग-जुग बाद
बढ़िया आइल बा सगइया कि अइहो लोगवा !
चुन पंचहतिया में
जे हो धरमी मइया कि अइहो लोगवा ।'

'जल टूटता हुआ' में बिम्बात्मक शैली और वर्णनात्मक शैली के भी सुन्दर नमूने मिलते हैं।

बिम्बात्मक शैली—'दलसिंगार ताबड़तोड़ भाला चलाये जा रहा था और बलई कूद-कूदकर अपने को बचा रहा था। दलसिंगार ने एक जोरदार भाला मारा बलई को, लगा कि उसकी जान गई। बलई ने बड़े जोर से टांगी घुमाकर भाले की धार की काट करनी चाही। 'खच्च' से टांगी दलसिंगार के पेट में लगी और क्षण भर में ही उसकी पोटी बाहर निकल आयी। 'अरे बाप !' कहकर वह चिल्लाया और भहरा पड़ा। खून का फव्वारा छूटने लगा। देखते--देखते वह ठंडा हो गया।'[1]

'जल टूटता हुआ' का रचना-विधान ऐसा है कि लेखक पहले से कोई शैली निश्चित नहीं करता—'मेरा सर्जक किसी बिन्दु से उस जीवन जंगल में धंसता है, यात्रा शुरू होती है, रास्ते बनते जाते हैं, रास्ते में से नये रास्ते फूटते जाते हैं और यात्रा करने की प्रक्रिया में ही यह तय होता चलता है कि आगे कहां जाना है किस ओर जाना है और भूमि के अनुरूप अभिव्यक्ति की शैलियां बनती चलती हैं।'[2]

लेखक ने पंचायत का चुनाव, बांध निर्माण योजना, कुंजु-बदमी प्रणय-प्रसंग, मास्टर-शारदा प्रणय-प्रसंग, चकबन्दी इत्यादि अनेक राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक प्रसंगों को इस प्रकार नियोजित किया है कि सम्पूर्ण रचना-विधान को देखते हुए शिल्पगत बिखराव त्रुटिपूर्ण नहीं लगता।

लाल-पीली जमीन

'लाल-पीली जमीन' में गोविन्द मिश्र ने बुन्देलखण्ड के एक कस्बे को अपने उपन्यास का विषय-क्षेत्र बनाया है। उपन्यास 'फालतू', 'घर', 'चौपड़' तथा 'मात', इन चार शीर्षकों में विभक्त है।

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 244
2. आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सं० डॉ० भीष्म साहनी, डॉ० रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, पृ० 200

सीवर लड़ाना, अखाड़ेबाजी करना, हिंसा, नारेबाजी, जुलूस, लड़ाई, मारपीट, स्कूली लड़कों का आपस में समलैंगिक यौन-सम्बन्ध, औरतों को पीटना, लड़कियां बेइज्जत करना, उन्हें फांसना, परीक्षा न होने देना, इस कस्बे के निवासियों के विशिष्ट कारनामे हैं। दिशाहीन निम्न-मध्य युवा-वर्ग की शक्ति अपराध, आवारगी और बेचारगी में बदल जाती है। उसकी प्रतिभा का मास्टरों, नेताओं, चौबे, यादवों की पार्टी-द्वारा दुरुपयोग तो क्या, बाकायदे हनन होता है।

कस्बे में चौबे और यादव, इन दो पार्टियों की राजनीति चलती है। चौबों को अपना प्रभुत्व छिनने की आशंका तो है ही, इसके अलावा यादवों को साथ मिला लेने से अपनी उच्चजाति के गौरव को अस्मिता का भी भय है। ऐसे में चौबेजी को उज्चजाति को एकजुट करने का उपाय सूझता है।

कस्बे से लगे शहर में राममोहन, ठाकुर साहब, माथुर और बोस साहब की हिंसा पर आधारित राजनीति है। हिंसावादियों को पुलिस और नेताओं की ओर से आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा मिलती है। ऊपर से शुभचिंतक दिखने वाले नेता छात्रों से अपना स्वार्थ साधते हैं। उन्हें मानसिक विकास का अवसर ही नहीं देते कि वे इन स्थितियों को समझकर विद्रोह कर सकें। नेता वगैरह दंगे भड़काकर लोगों को आपस में ही भिड़ाते हैं, ताकि मुख्य सामाजिक सयस्याओं की तरफ उनका ध्यान ही न जा सके। मास्टर कंठी के योग्य अध्यापक के प्रिंसिपल न चुने जाने, हॉस्टल के खाने-पीने को तकलीफों को दूर करने के लिए छात्र तथा कुछ लोग महंगाई के खिलाफ जुलूसबाजी करते हुए बोस साहब के न मिलने पर कलक्टर के यहां पहुंचते हैं। पुलिस और छात्रों की जबर्दस्त मुठभेड़ होती है। छात्र जीप में आग लगा देते हैं, पथराव करते हैं, बदले में पुलिस उन पर लाठी लेकर टूट पड़ती है। मजिस्ट्रेट साहब को भी दो-तीन लाठियां पड़ती हैं। सुरेश अपने साथियों के साथ अलग से इस आग को भड़काता है। फिर लड़कों पर गोलियां बरसाई गईं। विद्रोह भड़क उठा। परिणामस्वरूप रास्ते का कोई भी व्यक्ति इस मुठभेड़ में शामिल हो गया—'रास्ते का कोई भी अहरू-बहरू शामिल होकर, अपने दिल की आग बुझाने में लग गया।···बस के अड्डे पर पहुंचकर उस समूह में बसों में आग लगाने की कोशिश की। उन्हें पीटा गया और पुलिस के पहुंचते-पहुंचते एक बस को जला भी दिया गया। इस बार एस० पी० खुद साथ आया था। छात्रों के अलावा जो भी कोई था, भाग निकला। उनकी देखा-देखी कुछ लड़के भी भाग निकले और फिर जो छोटा-सा समूह गया, उसे पकड़कर पुलिस वैन में भर लिया गया।'[1]

राममोहन, ठाकुर, माथुर और बोस साहब ऊपर से सहानुभूति जताते हैं, परन्तु उनके सामने—'प्रश्न जो अब बच रहा था, वह यह कि घटना का उनकी पार्टी कैसे फायदा उठाये।'[2]

तमंचे के लोभ में सुरेश मास्टर के साथ एक पार्टी का काम करता था। जैसे—

---

1. गोविन्द मिश्र : लाल पीली जमीन, पृ० 211
2. वही, पृ० 212

जुलूस को अपने ढंग से चलाना, कलक्टर के घर के सासने खड़ी जीपों में आग लगाना आदि। शिवमंगल बोर्ड के इम्तिहान में नकल करता है। इनिविजिलेटर की हिम्मत नहीं होती कि उसके पास जाकर नकल करने से रोक सके। मास्टर कंठी और मास्टर कौशल के मना करने पर कहता है—'कंठी मास्टर, प्रिंसिपली तेरे भेजे में चढ़ गई लगती है। जानता है, मैं जिस दिन चाहूं, तुझे इस कुर्सी से अलग कर सकता हूं।"[1]

अंततः एक दिन शिवमंगल मास्टर कंठी को छुरा घोंपकर मार देता है। तभी कुछ लड़के बाहर से आकर परीक्षा नहीं होने देते। उत्तर पुस्तिका फाड़ते हैं, चीजों को इधर-उधर पटकते हैं, बाहर किताबों की होली खेली जाती है। इधर शिवमंगल को भागने का मौका मिल जाता है।

इस बस्ती की हर जवान लड़की किसी-न-किसी प्रकार शोषित होती है। यहां की स्त्रियां इस बात को अच्छी तरह समझती हैं कि 'औरत तो गाय है, चाहे जिधर हांक दो, चाहे जिस खूंटे से बांध दो।'[2]

बड़े जादवजी के लड़की के मामले में बस्ती के माहौल को देखते हुए तर्कपूर्ण ख्यालात कुछ इस प्रकार हैं—"लड़की एक व्याधि है, इससे छुटकारा फौरन पाया जाना चाहिए, नहीं तो इससे कई तरह के विकार उत्पन्न हो सकते हैं।'[3]

ऐसे माहौल में सबसे अधिक खतरा लड़की की सुरक्षा को लेकर था, इसलिए छुटपन में ही लड़की की शादी कर दी जाती थी। लड़कियों की पढ़ाई भी सिर्फ तभी तक होती, जब तक कि वे साड़ियां न पहनने लगे। जवान, बड़ी लड़कियों का जीवन दहशत-भरा था। एकमात्र नौकरी करने वाली शांति को उचक्कों के ताने सुनने पड़ते। इससे बचने का उसके पास एक ही तरीका था—'तेजी से सूखा जाये। बुढ़ापे की लकीर छू ली, तो सब कुछ ठीक हो जाएगा।'[4]

लेकिन यही शांति गंदे, अधेड़ पण्डित की वासना की चपेट में आकर, मानसिक तौर पर ग्रस्त होकर, गिर्गी के पहले दौरे में ही मर जाती है। कनफट्टे जादव टोली बनाकर लड़कियों को छेड़ने का काम करते हैं। पण्डित नारायण के द्वारा छवि को फंसवाने को तथा कल्लू शिवहरे कांस्टेबल की मदद से शैलजा को उठवा लेता है और जबर्दस्ती उससे विवाह करता है। शिवहरे कैलाश को शैलजा को भगाने के मिथ्या आरोप में हिरासत में लेकर पहले खुद जमकर उसकी पिटाई करता है और थकने के बाद दूसरों से पिटवाता है। सुरेश भट्ट की बड़ी लड़की को सबके सामने से घसीटकर ले जाता है। दो-चार दिन के बाद भट्ट से आकर कहता है—'कसम से तेरी लौंडिया बड़ी कसम चीज थी···तू फिकर न कर, आगे कोई खतरा नहीं। सुरेश सिर्फ एक बार चखता है। लेकिन तुझ

---

1. गोविन्द मिश्र : लाल पीली जमीन, पृ० 335
2. वही, पृ० 163
3. वही, पृ० 157
4. वही, पृ० 70

एक बार ही और रेप करूंगा—जब छोटी तैयार हो जाएगी···बस।'[1]

शांति से रहना चाहने वाले केशव के पिता को शिवहरे, शिवमंगल कभी पैर में लाठी मारते हैं, तो कभी घर से बाहर घसीटकर मारने की कोशिश करते हैं। शिवमंगल, शिवहरे, सुरेश-जैसों से बचने के लिए केशव के पिता को बार-बार गांव से बस्ती और बस्ती से गांव जाना पड़ता है।

वास्तव में सुरेश, शिवमंगल की गुंडई और आवारगी के पीछे उनकी बेचारगी छिपी है। इसीलिए उच्च वर्ग-द्वारा शोषित सुरेश, शिवमंगल, कल्लू, शिवहरे, कल्लन, शिवराम, पण्डित अपने से शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों को सताते हैं। इसका कारण बताते हुए डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव कहते हैं—'यह उपन्यास युवा-मानस की उस व्यग्रता का आभास कराता है, जिसके निकट स्वीकार या निर्माण, सत्य और निष्ठा के सभी रास्ते बन्द हैं और नकार या ध्वंस के रास्ते आत्यंतिक रूप से खुले हुए हैं: युवा आतंकवाद की चरम मुद्रा—जिसके पीछे जाति, वर्ग, राजनीति की संकीर्ण प्रेरणायें हैं—युवा चेतना की समाप्ति की ही दिशा है।'[2]

इस गन्दे हिंसात्मक माहौल के विषय में चन्द्रकांत बांदिवडेकर का कहना है—'लाल-पीली जमीन' का यह पूरा विश्व जंगली, हिंस्र, भयावह और मूल्यहीन होने पर भी कहीं भी भड़कीला नहीं है। न कहीं नाट्यात्मकता का सहारा लिया गया है। जात-पांत, सामाजिक स्थान और प्रतिष्ठा, आर्थिक औकात और शक्ति, मूलभूत मानवीय प्रवृत्तियां और परिवेश का दबाव, राजनीतिक दांव-पेंच— इनका कुछ जटिल रसायन उपन्यास में उबलता रहता है। पाठक अनुभव करता है एक अजीब-सी अवसन्नता, पत्थर की दीवार पर सिर पटक-पटककर मरने वालों की यातनाओं का चीखता अवसाद। एक अच्छे-भले आदमी को आदमी के स्तर से नीचे खींचने वाले परिवेश का रीछ-जैसा आकार, जो क्रमश: हमारे आस-पास फैलता रहता है।'[3]

ऐसा माहौल होने पर नौरता का त्यौहार, मामुलिया का त्यौहार, शादी-ब्याह, दीवाली, होली का त्यौहार बड़े जोर-शोर से मनाया जाता है। धीरे-धीरे जाने कहां से लोगों में संचित उत्सवधर्मिता उमड़ती है और दीवाली का त्यौहार पूरे उत्साह में और शांतिपूर्वक मनाया जाता है।

'सभी घरों में सफेदी होती—महीनों पहले से मौहल्ला कलई-साड़ियां की महक से घर भर जाता। मवेशियों पर दाग लगाये जाते, धरेवियों का बैलों की झालरें कमर से बांध और डंडा उठाकर नाच और इनाम की वसूली होती। दिवाली के तीन दिनों चबूतरों पर लालटेनों की रोशनी में जुआ होता—ज्यादातर कौड़ी, कहीं-कहीं ताश

1. गोविन्द मिश्र : लाल-पीली जमीन, पृ० 282
2. डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव : 'गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम'—सम्पा० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 106
3. चन्द्रकांत बांदिवडेकर : गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम, सम्पा० चन्द्रकांत बांदिवडेकर, पृ० 97

भी।'[1]

लेकिन होली में बस्ती वाले अपनी हरकतों से बाज नहीं आते। बल्कि होली के बहाने उन्हें और भी छूट मिल जाती है—'यों स्वच्छन्दता तो वहां बारह महीनों की थी, पर होली के दिनों में खासकर कोई कुछ भी कर सकता था। शरीफ घरों के लिए इसीलिए होली त्यौहारों के रूप में नहीं, डाकू के नोटिस की तरह आती थी···ये सिर्फ राम-राम करते हुए बला टलने की प्रतीक्षा भर कर सकते थे।'[2]

संवेदनशील केशव अपने को बस्ती के भयपूर्ण और असुरक्षात्मक माहौल में फिट नहीं कर पाता। बाद में विवाह होने पर पत्नी से भी मधुर सम्बन्ध नहीं बन पाते। केशव अकेलेपन की इस मनःस्थिति से अन्त तक नहीं उबर पाता। केशव की इस मनःस्थिति को उपन्यासकार ने बिना किसी लाग-लपेट के, बेलौसी से कलात्मक और प्रतीकात्मक ढंग से दर्शाया है।

'लाल पीली जमीन' की भाषा की प्रशंसा सभी ने खुलकर की है। बिम्बों, उपमानों, प्रतीकों का प्रयोग भाषा को प्रभावशाली बनाता है। प्रतीकात्मक भाषा के प्रयोग ने उपन्यास को एक कलात्मक प्रभावान्विति दी है। अनुभव और परिदृश्य अपनी समग्रता में प्रकट होते अनुभव होते हैं। नितान्त सामान्य-सा दृश्य भी जीवन्त जान पड़ता है।

'बस्ती की गन्दी नालियों में हर साल नये मच्छरों के झौर आते थे···कुछ मरते थे···कुछ मन-मन करते आपस में जूझते रहते···कुछ रह जाते, अगले साल मरने के लिए। दो-तीन सांढ़ भी छुट्टा घूमते रहते थे···कुछ दिनों में वे भी झुराकर कहीं बैठे पगुराते होते। यह तो इस बस्ती का जीवन-प्रवाह है··'[3]

उपन्यास में नंग्यांय, पन्यास, लूम, चीप, जशीरा, पौदों, उगाल, चुलजा, खुलक-खुलक, भड़पक, कठैंठ, गांस-गांसकर, कलथाया, झुतरे करोढ़ते-जैसे कुछ बस्ती में बोले जाने वाले विशिष्ट शब्दों का व्यवहार किया गया है।

अपने परिवेश में उपन्यासकार की एक गहरी, आत्मीय और पारदर्शी स्तर की पैठ है। बिम्बों के संयोजन में उसका यह लगाव और कौशल पूरी तरह झलक उठता है।

'मेरा मकान महानगर की दो बड़ी-बड़ी सड़कों के संगम पर खड़ा है, चौराहे के किसी लावारिश कोने पर मार्गदर्शक मानचित्र के बोर्ड की तरह। सांपों-सी ऊल-जुलूल सैकड़ों रेखायें, हजारों रंग और कई तरह के निशान। ट्रैफिक की सरसराहट में उखड़-उखड़ पड़ता है, ढीले मसूढ़ों में सटर-सटर करते दांत के किसी बेढंगे सेट की तरह। सामने आसमान के टुकड़े पर सबेरे की पहली मटमैली रेख खिड़की की बराबरी पर आती है।'[4]

---

1. गोविन्द मिश्र : लाल पीली जमीन, पृ० 63
2. वही, पृ० 64
3. वही, पृ० 102
4. वही, पृ० 9

'लाल पीली जमीन' में नये ढंग के उपमानों का प्रयोग किया है—'मिट्टी सारी बह गई थी और नीचे से अच्छी-खासी चीजें निकल आई थीं, उन दांतों की तरह जिनके मसूढ़े घिस गये हों।"[1]

"सुबह की वह अनछुई लकीर—संभावनाओं के ऊपर पसरी हुई किसी खूबसूरत लड़की के चेहरे को काटती हुई मूंछ की पतली कालिख की रेख···।[2]

शैली वर्णनात्मक है। वर्णन-शैली में एक प्रकार की तटस्थता है। जो उपन्यासकार की शिल्प तथा भाषागत परिपक्वता का प्रमाण है। प्रारम्भ में आत्मकथात्मक शैली है। 'लाल पीली जमीन' में रचना-विधान की यह कमजोरी जरूर प्रतीत हो सकती है कि उपन्यास प्रारम्भ में रोचक नहीं प्रतीत होता और शिल्प-संगठन में भी कुछ झोल मालूम पड़ते हैं, लेकिन उपन्यास के साथ यह समस्या प्रारम्भ में ही है। बाद में उपन्यास जैसे धीरे-धीरे एक लय-सी पकड़ता जाता है। उपन्यास के शिल्प संगठन में दोष की ओर इंगित करते हुए प्रभाकर श्रोत्रिय कहते हैं—

"इस उपन्यास में भी वे अपनी रचना का प्रारम्भ आकर्षक ढंग से नहीं कर पाते। यदि पाठक में धीरज की कमी हो, तो वह उन्हें कुछ पृष्ठ पढ़कर ही छोड़ देगा। ···प्रारम्भ को सहते हुए हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं। यह उपन्यास हमें यथार्थ के निकटतर ले जाता है, इससे ही उसकी भाषा और शिल्प में निरन्तर निखार दिखाई देता है।'[3]

'लाल पीली जमीन' को हम सामान्य अर्थों में आंचलिक उपन्यास नहीं कह सकते। भाषा में भी कुछेक आंचलिक शब्दों, या कुछ वाक्यों को छोड़कर आंचलिकता का गहरा प्रभाव नहीं दिखता। यहां घटने वाली घटनाएं किसी खास हिस्से की नहीं लगतीं। उपन्यास के लिए एक अंचल या क्षेत्र को जरूर लिया है। लेखक ने बस्ती के लोगों के तौर-तरीके, मान्यताओं, रहन-सहन, सामाजिक-नैतिक, राजनैतिक क्रिया-कलाप मान्यताओं को पूरा उघाड़कर सामने रख दिया है, परन्तु इन विशेषताओं के चित्रण से किसी अंचल-विशेष की वैसी कोई पहचान नहीं उभरती, जिसे ठेठ क्षेत्रीय कहा जा सके। इस उपन्यास में कस्बे की जिन विशेषताओं का चित्रण है, वह कमोवेश प्रायः सभी कस्बों में मिलती है। लेखक कथाक्षेत्र के रूप में बुन्देलखण्ड का एक समग्र चित्रण तो करता है, परन्तु वह चित्रण विशिष्ट न होकर सामान्य बन जाता है। विष्णु प्रभाकर भी इसे आंचलिक उपन्यास नहीं मानते —'इसे आंचलिक नहीं कहा जा सकता···जब मैं पढ़ रहा था, तो मुझे ऐसा लग रहा था कि सारे दृश्य मैंने देखे हैं और मैं उनके बीच से गुजरा हूं, एक अंगुल जमीन के लिए लड़ाई कहां नहीं होती। एक अच्छी और सफल

---

1. गोविन्द मिश्र : लाल पीली जमीन, पृ० 30
2. वही, पृ० 9
3. डॉ० प्रभाकर श्रोत्रीय : गोविंद मिश्र सृजन के आयाम : सम्पा० चन्द्रकांत वांदिवडेकर, पृ० 108

कृति।'[1] लेकिन अगर आंचलिकता की अवधारणा को अंचल-विशेष की बोली या स्थानीयता की प्रचुरता और प्रयोग तक सीमित न मानकर, वहां के जीवन-परिवेश की सार्वजनीयता अथवा सार्वदेशिकता की हदों को छूने वाली विशिष्टताओं के रूपांकन तक भी ले जाएं, तो 'लाल पीली जमीन' को एक झटके में हाशिये पर नहीं डाला जा सकेगा। अंतर्वस्तु के विधान में यह उपन्यास निश्चित ही आंचलिकता की सीमा-रेखाओं को छूता है, क्योंकि इसमें कस्बे की विशिष्टताओं का चित्रण, भाषा और शैली की दृष्टि से भी पूरा कस्बाईपन लिए है। वास्तव में देखा जाए, तो 'लाल पीली जमीन' आंचलिकता और सार्वदेशिकता की संधिरेखा का उपन्यास भी कहा जा सकता है; क्योंकि चरित्र-चित्रण के स्तर पर ही नहीं, बल्कि भाषा-शैली और वर्णन में ठेठ आंचलिक लहजे की छाया इसकी संरचना में साफ देखी जा सकती है।

जिन्दगीनामा

'जिन्दगीनामा' कृष्णा सोबती का काफी चर्चित बृहतकाय उपन्यास है। 'जिन्दगीनामा', जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, पंजाब की सांस्कृतिक, सामाजिक जीवन-शैली का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत करता है।

'यदि किसी को पंजाब की संस्कृति, रहन-सहन, चाल-ढाल, रीति-रिवाज की जानकारी प्राप्त करनी हो, इतिहास की बात जाननी हो, यहां की दन्तकथाओं, प्रचलित लोकोक्तियों तथा 18वीं-19वीं शताब्दी की प्रवृतियों से अवगत होने की इच्छा हो, तो 'जिन्दगीनामा' से अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं।'[2]

'जिन्दगीनामा' में स्वतंत्रता-पूर्व पंजाब की कथा है। इसमें कृष्णा सोवती ने जिस गांव को चुना है, वह पंजाब के सीमांत अंचल का प्रतिनिधित्व करता है।

इस अंचल में लोग खास पढ़े-लिखे नहीं, फिर भी जागरूक हैं। यहां के लोग मेहनती, भरे-पूरे, खाते-पीते स्वस्थ हैं। लोग अंचल की ही नहीं, बाहर की खबरों की भी जानकारी रखते हैं। अंग्रेजी राज, कानून के विषय में चर्चा करते हैं। एक-दूसरे के अनुभव सुनते-सुनाते हैं। सरकारी कार्यों, राजनीति की बात करते हैं। कोलम्बिया, बंगाल, हांगकांग, अमेरिका में बसे इस वक्त के हिन्दुस्तानियों की स्थितियों का जिक्र करते हैं। कत्ल, डकैती, झूठे मुकद्दमों की इस गांव में भी कमी नहीं। कृष्णा सोवती के शब्दों में—जिस तरह आशिक को माशूक के वस्ल के सिवाय कोई दूसरा इलाज नहीं, उसी तरह कचहरी में भी कुफ्र झूठ के बिना गुजारा नहीं। वहां तो खुले मुंह दीदायाजी की तरह

---

1. गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम, परिशिष्ट (3) सम्मतियां : सम्पादक—चन्द्रकांत वांदिवडेकर।
2. डॉ० देवराज उपाध्याय : हिन्दी साहित्याब्द कोश, 1978, पृ० 60
3. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, प० 222

दलीलबाजी शुरू हो जाती है और सच विचारा किसी पर्दानशीन औरत की तरह परदे के पीछे झांकता रहता है।'[1]

आंचलिक उपन्यासों में पाई जाने वाली गरीबी, पिछड़ापन, उच्चवर्ग की शोषण की प्रवृत्ति के दर्शन इस उपन्यास में नहीं होते। मालिक लोग अपने नौकर-चाकरों से मुरोवत करते हैं। फरमान अली की रेहन रखी जमीन को शाह लोग छोड़देते हैं। खेतों में काम करने वाले मजदूर-किसान दुःखी दिखायी पड़ते हैं। अपने मालिकों से उन्हें शिकायत नहीं है। 'अपने शाह ऐसी दुजैगी नहीं करते। हर बरस वाठी पर पाये हुए घी-चावल अगली वाठी तक रूह को परचाये रहते हैं। बुरी बात है, जो हम शाहों का लूण-मीठा लाकर उनकी निन्दा-चुगली करें। सच बात तो यह कि शाह-शाह हैं, अपने मुकद्दर से! जट्ट, जट्ट हैं, अपनी तकदीर से।'[2]

पंजाब में स्त्रियां भड़कीले वस्त्र पहनती हैं। त्रिजन[3] में स्त्रियां तरह-तरह की पोशाकें पहनकर आती हैं—'कोई नवेली पहन आई सलीम-जड़ा मलमल का लाल जोड़ा। किसी ने हरे रंग की काबुली दरियाई का। किसी ने बांकड़ी के चालवाली गुलाबी ओढ़नी। किसी ने मूंगिया खद्दर पर टंका सुनहरी गोखरू। कोई सास की थारी ओढ़ आई फुलकारी चीरमे फूल की। कोई बबोये और कौड़ी वाली।'

यहां के लोग जिन-भूतों में विश्वास करते हैं। भूत भगाने का मन्त्र पढ़ते हैं—

'काली चरी, चार चरी
काट-काट देही को खाये
पानी बहाये समुद्र का भूत
चुड़ैल भस्म हो जाये।
काली चरी, चार चरी, काट-काट···'[3]

बड़ी-बूढ़ियां अपने बच्चों को अरूड़ियों की तरफ जाने से रोकती है—'अरे बच्चड़ो, अरूढ़ियों की ओर न जाना। दिन-दहाड़े जिन्न-ख्वास नजर आया है। रव्व खैर करें।'[4]

टोने-टोटकों में भी इनका विश्वास है।

'ऊपर आकर पानी की कमाली भरवायी ओर चाकू से पानी काट दिया—

ईंची-नीची कोको खाय
कंजरी भड़वी जहन्नुम में जाय।'[5]

---

1. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० 81
2. जिस घर में त्रिजन बिठाया जाता है, वहां सब स्त्रियां एकत्र होती हैं, चरखा कातती हैं, गीत गाती हैं।
3. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० 163
4. वही, पृ० 162
5. वही, पृ० 216

मुसलमानों के साथ शादी-ब्याह करना बुरा समझा जाता है। तेलिये की वो लखमी और सैयद तरिशाह के विवाह की समाज में हुई प्रतिक्रिया इस प्रकार है—'हाय-हाय कलयुग बरत गया। विधर्मी के संग अंग भेंट तेरी मति भ्रष्ट हो गई है। भल्ला, जरा सोच के देख। क्या उसके चौके में खाये चुगलायेगी। अरी, तू जन्म की ब्राह्मणी, म्लेच्छ को मुंह मारने दिया।'[1]

इस गांव में पुत्र होने पर तरह-तरह के रस्मो-रिवाज धूमधाम से मनाये जाते हैं। शाहजी के पुत्र लालीशाह का जन्म होने पर पण्डितजी आये, मन्त्रोच्चार किया, दूध, दही, शहद, गंगाजल, तुलसी मिलाकर पांच रत्नों का अमृत मुंह लगवाया, सिखारना हुआ, मां-पुत्र की कलाइयों पर डोरियां बंधीं।

खुशी के मौके पर मुजरा-तमाशा करवाने का रिवाज भी है। बाद में ब्राह्मणों को भोजन और पितरों को विदाई दी जाती है। नवरात्रि में गौरा-पार्वती की कथा कही जाती है।

'काले कोच्छड़ों की गोरी बहूटी पार्वती बन्दोवाली केसरी ओढ़नी ओढ़ इतरा-इतरा जाये।

'मोहरसिंह की घरवाली छुहारेबाली बूटी का जोड़ा पहन निक्का शरमाये।

'सुनहरी भरावे बाग फुलकारियां ओढ़े देवरानी के साथ शाहनी पहुंची, तो सभा का सिंगार बन-बन फबने लगी।'[2]

भाषा

उपन्यास में ठेठ पंजाबी शब्दों—लिशकारा, दुक, दरलाटों, पैंडा, पल्लर, जापता मान्दी, वड्डे-वडेरे, माड़ी, नशर, मोड़ियां, इत्तक, जेकर, रोगटी—का ठेठ और बहुतायत से प्रयोग हुआ है। यही बात मुहावरों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पल्ले हो दमड़ी, तो सोने से पहले सजे ब्याह, जान-प्राण बन्दे को रब्ब देता है और रंग रूप मां और बब्ब देता है, 'चोरी न करसो, तो खासो क्या,' 'कमर कसी ओढ़ैयां और पीना कोह लोहार,' 'जो सुख बलख न बुखारे वह सुख छज्जू के पौनारे',-जैसे विशुद्ध पंजाबी मुहावरों, कहावतों को देखकर ही डॉ० देवराज उपाध्याय कहते हैं—

'भाषा का संगठन हिन्दी का ही है, पर पंजाबी शब्दों तथा मुहावरों का आधिक्य चिन्त्य है। उपन्यासकार ने भाषा से बहुत ही कठिन, असम्भवप्राय काम लेना चाहा है।'[3]

यद्यपि यह हिन्दी में लिखा गया है फिर भी वर्णनात्मकता में पंजाबीपन है। यहां तक कि वह उर्दू भी है, जिसे पंजाबी मध्यवर्ग धीरे-धीरे स्वीकार करने लगा था। कृष्णा सोबती विचित्र पंजाबी शब्दों का भी प्रयोग करती हैं, जैसे निक्का, सूथन, बीड़ा, घुस्सा,

1. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० 224
2. वही, पृ० 36
3. डॉ० देवराज उपाध्याय : हिन्दी साहित्याब्द कोश, पृ० 62

ढाढा, गुतावा, तवली, जातक आदि। केवल यही नहीं, वह पंजाबी मुहावरे भी इस्तेमाल करती हैं—'कख न रहे, सदके जावां, सौंह रब दी, चप्पा-चप्पा गाह मारिया, जंगल झाड़े गये' आदि।[1]

'मैला आंचल' में भाषा का जो रचनात्मक प्रयोग मिलता है और खड़ी बोली हिन्दी के साथ अंचल की बोली का तालमेल बिठाने से आंचलिकता के सघन प्रयोग के बावजूद सुबोधता बनी रहती है, ऐसा रचनात्मक प्रयोग 'जिन्दगीनामा' में नहीं है। इस उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है कि लेखिका ने भाषिक-संरचना पर मेहनत करने की जहमत ही नहीं उठाई और अंचल की बोली और खड़ी बोली हिन्दी में तालमेल बिठाने की कोशिश ही नहीं की। पंजाबी शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से भाषा दुरूह हो गई है तथा पंजाब अंचल का चित्रण इतना सघन हो गया है कि पंजाब प्रान्त या पंजाबी भाषा संस्कृति से अपरिचित पाठक इसमें विशेष रस नहीं ले सकता। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि पंजाबी भाषा अपने पूरे लटके-झटके के साथ प्रयुक्त हुई है—

'चाची ने चुमकार कहा—मां रज्ज गई। सहजे से करो।...'

कादरलाल मीरन की खोज में इधर आ निकला था। सुलेमान को देखा तो भब्बक गया—'काहे सुलेमान, आज किसकी चीची उंगली पर।'

नूरां जट्टी बड़ी टैंश में खड़ी थी। अपनी पच्छी आगे-आगे की और अपनी सुडौल नाक सुलेमान की सीध कर बोली, 'सुन रे, ईद रोज-रोज नहीं आती। सीधी तरह या तो संभाल तन्दूर या यार-लटूरों से कर लम्मतरानियां।'

सुलेमान पहले वक्तों की याद में खुशामद करने लगा—'तेरे सिर की सौंह है नूरां, जो बिना सेवइयां के परसो। लाओ।'

पच्छी पकड़ाते-पकड़ाते नूरां ने जालिम अंखियों में सुलेमान को हड़प कर डाला—'जर के मच्छी सुलतान, तुमने क्या समझा तन्दूर गरमाते-गरमाते तुम हड्डेदार भी हो गए हो।'[2]

'जिन्दगीनामा' में जगह-जगह उपमाओं का बड़ा सुन्दर प्रयोग मिलता है। दो-तीन उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'मूंछें ऐसी कि मुंह पर दो पाखी बैठे हों।'

'तारों की छांह में बैठे जने-जनानियां, बच्चे-बूढ़े ऐसे भासें, जैसे लहू के पौधे हों और अपने-अपने बब्बर कबीलों के झुरमुट झुण्ड की छांह में बेफिक्री से बैठे हों।'

'थानेदार सलामत अली की आवाज ऐसी कि तेल में भीगा बेंत हवा में घुमाया हो।'

शब्द, कहावत और मुहावरे ही नहीं, गालियों तक में ठेठ पंजाबीपन झलकता है—कख न जाए तुम्हारा, मां के यार, सूरखानियां री रसूलिये, कुत्तेखानियां, मां खाने, कमजाते, खसमाखानियां, गल-गल गिरेगी तुम्हारी जीभड़ी।

---

1. कर्तारसिंह दुग्गल : नई कहानी, अंक 4, सितम्बर 1979, पृ० 176
2. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० 67

वारसशाह की हीर, सोहणी-महीवाल, बाबा फरीद की वाणी, बुल्लेशाह का बारहमासा, सावन का दोहरा, पुत्र के होने पर गाये जाने वाले गीतों में चिनाव और जेहलम की धरती (पंजाब) साकार हो उठती है। इस सन्दर्भ में कुछ उद्धरण देखते ही बनेंगे।

वारसशाह की हीर

'डोली चढ़दया नारियां हीर चीकां
मैनू ले चल बाबला ले चलो वे
मैनू रख ले बाबला हीर आरवे
डोली छत कहार नी ले चल वे।
साडा बोलना-चालना माफ करना
पंज रोज तेरे घर पर रह चले वे।'[1]

सोहणी महीवाल

'यार यार तू पई पुकारनी ऐ जेकर जान कहे महीवाल माये
मेरा रब्ब रसूल ते खास काबा जे इमान कहे महीवाल माये
वाली वारस जी जहान अन्दर मेरा खान कहे महीवाल माये
फजल शाह यार तो जान फिदा मेरी, मेरा तन कहे महीवाल माये।'[2]

शाहजी का पुत्र होने पर सगुण का गीत—

'नौरंग चूड़ेवालियां
मेरी जच्चारानियां
सूहे जोड़े पहन सुहागनां
मोतियां मांग सजावनी
बैठ अंगना गोद भरावनी
मेरे लाल जियो
लख साल जियो !'

'जिन्दगीनामा' न तो वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों के अन्तर्गत आता है और न ही इसमें कथा को सिलसिलेवार ढंग से कहा गया है। कथा संगठन ढीला-ढाला है। खंड-खंड में कथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं। इसकी आलोचना करते हुए देवराज उपाध्याय कहते हैं—'उसमें जीवन की ही तरह घटनाओं के बेतरतीब जमघट हैं, पर उसमें बह

---

1. कृष्णा सोवती : जिन्दगीनामा, पृ० 31
2. वही, पृ० 33

नजाकत नहीं है, जो कला में प्राण का संचार करती है।'[1]

'जिन्दगीनामा' में रूप, वस्तु और भाषा, सभी दृष्टियों से भाषा की आंचलिकता का इतना अक्षम चित्रण है कि डॉ० रामदेव शुक्ल को कहना पड़ा—'कृष्णा सोबती का उपन्यास 'जिन्दगीनामा : जिन्दगीरुख' भी आंचलिक नहीं है, किन्तु इसमें ठेठ पंजाबी के लटकों का इस आग्रह के साथ प्रयोग किया गया है कि उसे हिन्दी का उपन्यास मानने में बहुत लोगों को एतराज होता है। आंचलिक या प्रादेशिक भाषा के शब्दों के प्रति असंतुलित मोह का एक अच्छा उदाहरण है 'जिन्दगीनामा'।[2]

लेकिन इतना तो हर हाल में मानना होगा कि पंजाब की जिन्दगी को एक व्यापक, सघन तथा अंतरंग फलक पर चित्रित करने के कारण 'जिन्दगीनामा' में पंजाब के सीमांत गांवों का चरित्र बोलता सुनाई देता है। यहां के सामाजिक जीवन के अतीत के ऐसे प्रभावी परिदृश्य 'जिन्दगीनामा' में दिखाई पड़ते हैं कि पंजाबी के प्रख्यात उपन्यासकार कर्तारसिंह दुग्गल के इस कथन में सार दिखाई देने लगता है—कि मुझे जरा भी सन्देह नहीं है कि 'जिन्दगीनामा' हमारे समय के हिन्दी साहित्य में एक कालजयी कृति होने जा रही है।[3]

इसमें कोई संशय नहीं कि इस उपन्यास में पंजाब को उसकी अन्तरात्मा के क्षितिजों तक प्रतिबिम्बित करने की कोशिश मौजूद है। पंजाब की पृष्ठभूमि पर ही 'तमस'-जैसे श्रेष्ठ उपन्यास की रचना करने वाले सुप्रसिद्ध उपन्यासकार भीष्म साहनी भी इस उपन्यास में पंजाब की सांझा सामाजिक जिन्दगी के अंतरंग और प्रामाणिक चित्रण की भरपूर सराहना करते हुए कहते हैं—'यह किसी एक अंचल की ही कहानी न होकर इन्सानी रिश्तों के एक विरल सामंजस्य की भी कहानी है, हिन्दू-मूसलमानों की सांझी संस्कृति की कहानी है, जो पुस्तक के पन्नों पर मुस्कुराती हुई-सी सामने आती है, जो शताब्दियों के मेल-जोल के कारण जन-मानस में रच-बस गई है, बल्कि किस्से-कहानियों के रूप में नदियां-पर्वतों से भी जुड़ गई हैं।'[4]

कसप

'कसम' मनोहर श्याम जोशी का किशोर-प्रेम पर आधारित बहुचर्चित उपन्यास है। प्रेमकथा लिखना ही इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है। स्वयं जोशी जी के शब्दों में —'प्रेम कहानियों की घनघोर पाठिका अपनी पत्नी भगवती के लिए, जिसकी इच्छा

1. डॉ० देवराज उपाध्याय : हिन्दी साहित्याब्द कोश, पृ० 6०
2. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सम्पा० डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० रामचन्द्र गुप्त।
3. कर्तारसिंह दुग्गल : नई कहानी, सितम्बर 1979, पृ० 176
4. भीष्म साहनी : आजकल, दिसम्बर 1979, पृ० 35-36

पर मैं एक अन्य उपन्यास अधूरा छोड़कर यह प्रेम-कहानी लिखने बैठ गया।'[1]

कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधारित यह मध्यवर्गीय प्रणय-कथा सत्रहवें वर्ष में प्रवेश करने वाली इण्टर वर्ष की छात्रा बेबी (मैत्रेयी), जिसे पढ़ाई से गहरी अरुचि है तथा बाईस वर्षीय, मातृपितृहीन साहित्यिक सिनेमाई रुचि सम्पन्न देवीदत्त तिवारी उर्फ 'डी० डी०' की है।

नायिका बेबी 'खिलंदड़' है। लड़कैंधी है। पेड़ पर चढ़ना हो, गुल्ली-डण्डी खेलना हो, कुश्ती लड़ना हो, कबड्डी खेलनी हो, बेबी हमेशा हाजिर है।'[2] आर्थिक दृष्टि से विपन्न, स्नेह-प्रेम से वंचित डी० डी० सबके बीच मखौल का पात्र बनता है। गुलनार हो, गुड़िया हो या दूर पहाड़ी बन्धु-बांधव। नायक-नायिका की प्रथम भेंट सुन्दर पहाड़ी कस्बे बिनसर के भिसूंण रानी की कोठी में विवाह के अवसर पर होती है।

डी० डी० और बेबी के प्यार का ढंग और जिन परिस्थितियों में उनका मिलन होता है, वह कभी-कभी हास्यास्पद ही नहीं, भदेस की स्थिति तक जा पहुंचता है। लेखक भी यह अमुभव करता है, लेकिन फिर भी भदेस के वर्णन के पक्ष में तर्क देता है—

'मैंने आपसे आरम्भ में निवेदन किया था कि मैं भदेस का पक्षधर नहीं हूं। इस बुढ़ापे में मेरा युवा-प्रेम की कथा लिखना अपने में ही पर्याप्त आपत्तिजनक है। कोरी खिलवाड़ अधिक आपत्तिजनक प्रतीत होती रही सुधीजनों को, इसलिए मैंने लेखनी रोक रखी है, किन्तु इस खिलवाड़ की 'भदेस' पराकाष्ठा का उल्लेख करने को मैं विवश हूं।'[3]

उपरोक्त उद्धरण से यह भी ध्वनित होता है कि नायक-नायिका का प्रेम महज एक खिलवाड़ है, लेकिन डॉ० विजयमोहन सिंह इसमें एक लगभग असाधारण प्रेमकथा की छवि देखते हुए, अपने 'धराशायी गू से गर्वोन्नत हिमशिखर तक' लेख में दावा करते हैं कि—'कसम, नदी के द्वीप' के बाद हिन्दी का दूसरा उपन्यास है, जिसे पूर्णतः प्रेम उपन्यास कहा जा सकता है।'[4] या कि—'भाषा के स्तर पर ही नहीं, सम्बन्धों के स्तर पर भी 'कसम' प्रेम की पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है।'[5]

इस 'भिन्नता' के सन्दर्भ में डॉ० विजयमोहन सिंह आगे यह भी कहते हैं कि—'प्रचलन से पृथक जाने का एक तरीका तो यह अपनाया गया है कि नायक-नायिका की मुलाकात किसी फुलवाड़ी में न कराके, एक बेहद अटपटी जगह, पाखाने में कराई जाती है।'[6]

---

1. मनोहर श्याम जोशी : समर्पण : 'कसप'
2. वही, पृ० 208-209
3. डॉ० विजयमोहन सिंह : 'आलोचना' जनवरी-जून 1983, पृ० 7, सम्पादक : डॉ० नामवरसिंह
4. वही, पृ० 8
5. वही, पृ० 9
6. डॉ० बागीश शुक्ल : 'आलोचना' जनवरी-जून 1983, पृ० 16, सम्पादक—डॉ० नामवर सिंह

पाखाने में कराये गये प्रेमारम्भ के प्रसंग में डॉ० वागीश शुक्ल भी लिखते हैं—

'चिरकीन और जाफर जटल्ली का जिक्र करके मैंने, शायद, बात को गलत जगह डाल दिया। 'भदेस' की साहित्य में कोई जगह है या नहीं, इस पर बहस तो, खैर शाश्वत है, लेकिन आधुनिक हिन्दी साहित्य में इधर के दो दशकों के साहित्यकारों ने ही कुछ-कुछ शहीदाना अन्दाज में 'हगना' और 'मूतना प्रारम्भ किया है। मनोहर श्याम जोशी शहीदाना अन्दाज में नहीं, किन्तु वे उस घरेलू लहजे में भी नहीं हैं, जिसमें 'अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु हैं' कहा जाता था।'

परन्तु मानना होगा कि 'कसप' में प्रेम ही नहीं, प्रेम की भाषा को भी कई बार बिसंगति और भदेस की हद तक ले जाया गया है, हालाँकि कला का तर्क उत्पन्न करते हुए।

नायक को भी लगता है कि इसी फिल्म का 'कभी आर कभी पार लागा तीरे नजर' गुनगुनाये ? नहीं, यह उसकी, उसके प्यार की गरिमा के अनुरूप नहीं होगा।[1] परन्तु प्यार की यही गरिमा 'कुर्ता उठाकर नायिका को मारगांठ दिखाते समय 'बेड-टी उर्फ ज्ञान-चहा' कहते या गणानाथ के मन्दिर के पास की गई ऊटपटांग-अश्लील हरकतें करते वक्त कहां लुप्त हो जाता है, कहना कठिन है।

डी० डी० के समक्ष जब बेबी से विवाह करने या अमरीका जाकर अपना कैरियर बनाने में से एक को चुनने का प्रश्न आता है, तो वह बेबी से तीन-चार वर्ष रुकने को कहता है, परन्तु नायिका सहमत नहीं होती है। गाड़ी से वापस, अपने पिता से कहती है —'मैंने तुमसे एक दिन आकर कहा था मेरी शादी हो गई। आज मैं तुमसे कह रही हूं, उस शादी में ना, मैं विधवा हो गई।'[2]

'कसप' में प्रेम की इस विसंगत टकराहट को साफ देखा जा सकता है—'कसप' की प्रेमकथा नायक-नायिका के प्रेम की विपरीत परिस्थितियों में परिचय, हास्यास्पद टकराव, आकर्षण और एक-दूसरे की जरूरत के अनुभव के अनेक धरातलों पर चित्रित करते कैरियर और प्रेम की समान्तरता पर आकर दोराही हो जाती है।'[3]

इसके बाद औसत कुमाऊंनी खिलन्दड़ी बेबी के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास होता है। एफ० ए०, पी० एच० डी० कराके कालेज में पढ़ाती है। आई० ए० एस० श्यामसुन्दर से विवाह करती है। बच्चों के लालन-पालन और सामाजिक कार्य के लिए नौकरी का त्याग करती है। इसके अलावा वह—'विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं में बराबर काम करती रही है बराबर और आज वह साहित्य कला आदि की अन्यतम संरक्षिका और स्त्रियों तथा निर्धनों के हित कार्य करने वाली नेत्री के रूप में ख्यात है। संसद-सदस्या रह चुकी है एक बार। वह सत्तारूढ़ दल से सम्बद्ध है, किन्तु

---

1. मनोहरश्याम जोशी : कसप, पृ० 23
2. वही, पृ० 259
3. डॉ० अश्वनीकुमार पाराशर : 'दीर्घा' दिसम्बर 1987, पृ० 88, सम्पादक—डॉ० विनय

विचारों से वामपन्थी समझी जाती है और डी० डी० अमेरिका से एक सफल दिग्दर्शक बनकर लौटता है।'[1]

'कसप' में लेखक ने कई प्रकार की भाषाओं एवं शैलियों और विभिन्न भाषा-बोलियों के शब्दों व तकनीक का प्रयोग किया है. किन्तु प्रमुखता विशुद्ध खड़ी बोली और कुमाऊंनी का टच लिये खड़ी बोली हिन्दी की है। 'कसप' में प्रयुक्त विभिन्न भाषाओं के उद्धरण निम्नलिखित हैं। देवनागरी लिपि में अंग्रजी के वाक्यों का प्रयोग—

1. लेट बी हैंन्डिल दिस बॉय। यू माइट बी नोइंग।

'ही हैज दिस फ्लेमिंग' या 'बैली डीयर एण्ड ही फायर्स बिफोर यू कुड से फायर'

2. कुमाऊंनी 'टच' लिए खड़ी बोली हिन्दी—

'अभी भी रिसाया हुआ है देखो। माफ करो महाराज, मैं तो इस जनम में कभी कहने वाली नहीं ठहरी। रीस आ रही, मार एक थप्पड़, रीस खतम।'

3. बम्बई वाली हिन्दी—'अबे डी० डीयनवां, बम्बई में बब्बन के लिए चानस भिड़ा रिया है कि नहीं?'—डी० डी०, 'अभी तो खुद में पाव-उस्सल खाके इमली के पत्ते पर दण्ड पेल रिया हूं, लल्लू!'

4. विशुद्ध खड़ी बोली—'मैं यही कह सकता हूं कि अब तक तुम कवियों की तरह तर्क कर रही हो। तुम कहना चाहती हो कि दो व्यक्ति घोषित रूप से कह रहे हों कि उनकी एक-दूसरे से कोई प्रतिबद्धता नहीं है—दोनों पूरी तरह चौकस हैं कि कहीं घाटा नहीं उठायेंगे कोई चोट नहीं खाएंगे, तो उनमें अंतरंगता हो जाती है।'

5. बनारसी बोली—

'दवाई लेहले रहलू।'

'मैत्रेयी का नया फोटो खिचवा लेहल जाई अर्जेन्ट'

बादाम मुनक्का देले रहल उदेसिंह

कल हम तिलकपुर वालन के लिख देव तारीख तय करे का

एहिमें बुद्धिमानी हो।'

इस उपन्यास में लेखक ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि खड़ी बोली हिन्दी और कुमाऊंनी हिन्दी के तालमेल से भाषा पाठकों के लिए दुर्बोध न हो जाय। उपन्यास के प्रारम्भ में 'कुमाऊंनी हिन्दी' शीर्षक के अन्तर्गत कुमाऊंनी हिन्दी के विशिष्ट प्रयोगों को व्याख्यायित किया है।

उपन्यास का शीर्षक ही कुमाऊंनी हिन्दी का शब्द है, जिसका अर्थ है—क्या पता। बहुत ही दार्शनिक किस्म का अथवा 'तुम स्वयं बूझो' ऐसी चुनौती से भरा क्या जानें, क्या पता। कहीं कोष्ठ में, कहीं फुटनोट में शब्दार्थ देना भी यह सिद्ध करता है कि लेखक बोली के शब्दों से पाठकों को होने वाली कठिनाई के प्रति कितना सजग है।

'कसप' में कथा कहने का यह ढंग—'हमारा नायक इसी ऊहापोह में हुआ है

---

1. मनोहर श्याम जोशी : कसप, पृ०2 49

कि दूसरा सीन शुरू हो जाता है।'[1] परमात्मा की इस फिल्म की शूटिंग में री-टेक नहीं होता है।[2] प्यार के कैमरे के दो ही फोकस हैं—प्रिय का चेहरा, और वह न हो, तो ऐसा कुछ, जो अनन्त दूरी पर स्थित हो।[3] शैली की दृष्टि से हिन्दी के उपन्यासों में नया प्रयोग है, जिसे सिनेमा-शैली की संज्ञा दी गई है—'सिने शब्दावली का प्रयोग यहां सार्थक है। न केवल इसलिए कि उपन्यास का नायक सिनेमा से सम्बद्ध है, बल्कि इसलिए भी कि उसकी कथा यहां सिनेमा-जैसी शैली में प्रस्तुत की गई है।'[4]

लोकगीतों के नाम पर कुमाउंनी गीतों को अधिकतर सिर्फ एक-एक ही पंक्ति मिलती है। कुमाऊंनी प्रेमगाथा राजुला-मालाशाही की पंक्ति—'भोल की जाणिया आज जै न्हैई गेछी। 'या' लागी री लगन, टूटे न तार, हाई रे इस्सक, हाई रे प्यार!'[5]

'कसप' में हिन्दी फिल्मों के गीतों का भी धड़ल्ले से प्रयोग किया गया है—

'इतनी-सी बात मुसीबत की और वो भी कही नहीं जाती, कुछ वह शरमाये रहते हैं, कुछ हम शरमाये रहते हैं।' ......'कभी आर, कभी पार, लागा तीरे-नजर' 'तुम्हारा, मेरे साथ यों गुनगुनाना। हमें भूल जाना, इन्हें ना भूलाना—भूलना।' इत्यादि।

लेखक की धारणा है कि फिल्मी गीतों का प्रयोग उसकी विवशता है, क्योंकि—'प्रेमोपयोगी काव्य का हिन्दी काव्य में शोचनीय दारिद्रय है। संस्कृत काव्य, रीति-कालीन-भक्तिकालीन काव्य और उर्दू-शेरो-शायरी का सहारा भी ले सकते थे, किन्तु एक तो ये (नायक-नायिका) इनसे सुपरिचित नहीं हैं, दूसरे इनसे नितांत सामंती-सा रंग मिलता है प्यार का, वो लोकतंत्र में अभीष्ट नहीं। अस्तु सिनेमा-गीतों का ही सम्बल है।'[6]

रीति-रिवाज, त्यौहार, आदतों, बोली, परम्परा के चित्रण में कुमाऊं की आंचलिकता स्पष्ट बोलती-सी अनुभव होती है। कुमाऊंनी विवाह की रस्मों का सम्पूर्ण विधि-विधान से वर्णन मिलता है। दूल्हे की परम्परागत वेशभूषा—रेशमी कुर्त्ता, पीताम्बर और पम्प शू, परम्परागत शाल, साफा और गणेश जी के चित्र वाला बड़ा-सा कागज का

1. मनोहरश्याम जोशी : कसप, पृ० 17
2. वही, पृ० 25
3. वही, पृ० 22
4. 'कसप' उपन्यास के फ्लैप-मैटर से।
5. मनोहरश्याम जोशी : कसप, पृ० 52
6. वही, पृ० 140-141
7. कन्या पत्थर पर आरूढ़ होती है और वर कामना करता है कि तू पत्थर की तरह स्थिर हो और शत्रुओं को वैसे ही पांवतले दबा दे, जैसे इस पत्थर को दबा रखा है।

मुकुट[1], वर का जूता छिपाना, द्वाराचार, कन्यादान, विवाह-गीत, होमफेरों, पाणिग्रहण, मन्त्रोच्चारण, सप्तपदी, वस्त्रारोहण, ध्रुवौदीक्षण मानामूनी,[2] धागुल-सुतुल,[3] ऐपण-ज्यूंतियां,[4] भेंटणौ,[5] चेंस-फाण, डुबुक, चुणकाणी, सिंगल, गुटके, बांट-ठट्वाणी, रस-भात-पपटोल, चिलड़ा और जौले,[6] आगर,[7] कौतिक,[8] हुड़ुक बौल,[9] हुल्यारू,[10] कुंवर कलेवा,[11] पिछौड़ा,[12] पिटार,[13] होली,[14] घुघुतिया,[15] इत्यादि कुमाऊं अंचल के विशिष्ट रीति-रिवाजों तथा व्यंजनों का प्रभूत वर्णन मिलता है।

कुमाऊं के लोगों की खास विशिष्टता है कि परिचय भी पूरा देंगे। अजनबी से परिचय पूछने पर पूरा परिचय पहले पितृकुल और न समझने पर मातृकुल का परिचय न देना असभ्यता समझा जाता है। इस 'पारिवारिक सन्दर्भ के बाद आपको अपना अप-टू-डेट बायोडाटा प्रस्तुत करना'[16] होता है। तथा 'किस्सागोई' की कुमाऊं में यशस्वी परम्परा है। ठण्ड और अभाव में पलते लोगों का नीरस, श्रम-साध्य जीवन किस्सों के सहारे ही कटता आया है। काथ, क्वीड़, सौल-कठौल, जाने कितने शब्द हैं उनके पास, अलग-अलग तरह की किस्सागोई के लिए। यही नहीं, उन्हें किस्सा सुनाने वाले को— 'ऐसा जो थोड़ी', ऐसा जो क्या, कहकर टोकने की और फिर किस्सा अपने ढंग से सुनाने

1. 'मानामूनी' फेरी के समय की रस्म है, जिसमें वर के सामने वधू की ओर से वैदिक चुनौतियों की एक फेहरिश्त पेश की जाती है, उनमें से एक यह भी है कि वधू को अपनी दायीं ओर से उठाकर बायीं और बैठाकर दिखाओ। इस तरह की चुनौतियां महज रस्मी मानी जाती हैं, लिहाजा भली बधुएं खुद ही उठकर इधर से उधर हो जाती हैं।
2. जेवर
3. अल्पना, चित्रकारी
4. चैत में विवाहित लड़कियों को दिया जाने वाला भोज
5. कुमाऊंनी व्यंजन
6. अनिष्ट के निवारण के लिए देवताओं का संगीत-नृत्य में आह्वान
7. मेला
8. लोकगीत, जो हुड़ुका बजाकर कृषिकार्य के साथ गाये जाते हैं
9. होली गाने वाले
10. शादी की अगली सुबह बारात को दिया जाने वाला भोज
11. पीले आधार पर लाल बुंदकियों वाली ओढ़नी, जो शुभअवसरों पर स्त्रियों-द्वारा-रंगी-पहनी जाती है।
12. सन्दूक, जिसमें दुल्हन के लिए जेवर-कपड़ा रखा जाता है।
14. फल, मेवा मिठाई वर और वधू पक्ष वाले आपस में बदलते हैं
15. बच्चों का कुमाउंनी त्यौहार
16. मनोहरश्याम जोशी : कसप, पृ० 54

की साहित्यिक जिद भी है।'[1]

कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधारित होने के बावजूद 'कसप' प्रातिनिधिक आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। आंचलिकता को समग्रता में चित्रित करने के लिए जो पृष्ठभूमि तैयार की जाती है, आंचलिक उपन्यास में, या कि विशिष्ट जाति-जनजाति पर आधारित आंचलिक उपन्यास लिखने की जो परम्परा रही है, उससे बिलकुल भिन्न 'कसप' विशुद्ध प्रेमकथा पर आधारित उपन्यास है। प्रेम-कथा का चित्रण आंचलिक उपन्यास में भी होता है, परन्तु वह साध्य नहीं होता, साध्य होती है आंचलिकता, परन्तु 'कसप' में प्रेमकथा साध्य और आंचलिकता उसका माध्यम बनी है। 'कसप' में कुमाऊं के परिवेश का चित्रण होते हुए भी, कथा डी० डी० और मैत्रैयी के प्रेम की ही होती है। आंचलिक उपन्यास में पात्रों का चित्रण वैयक्तिकता में नहीं, वरन् एक समूह में उठाने की विशिष्टता रही है, वह यहां नहीं मिलती। उपन्यास का पूरा फोकस डी० डी० और बेबी पर केन्द्रित है। 'कसप' को पढ़ने पर उसकी छवि एक आंचलिकता केन्द्रित उपन्यास की नहीं, वरन् आंचलिक भाषा-प्रयोगों वाले प्रेम-प्रधान उपन्यास की उभरती है। इसमें आद्यंत प्रेम के ही कार्य-कलापों और उसकी परिणति की गाथा प्रस्तुत की गई है।

मारगांठ से प्रेम का प्रारम्भ और मारगांठ से ही प्रेम का समापन हुए होने की बात को लेकर, स्वयं डॉ० विजयमोहन सिंह ही—जिन्होंने 'कसप' को हिन्दी की एक अपूर्व-अद्वितीय प्रेमगाथा करार देते हुए, इसकी व्याप्ति को धराशायी गू से गर्वोन्नत हिमशिखर तक की व्याप्ति को स्पर्श करने वाला माना है—कहते हैं—'सहसा प्रेमी युगल पुनः आमने-सामने हैं। डाक बंगला खाली कर दिया जाता है और 'पड़ गयी न मारगांठ'। प्रौढ़ा विदुषी मैत्रैयी देवी आकर 'मारगांठ' खोलती हैं। कुछ लोगों को यह 'सिचुएशन' फिल्मी सरहदों को छुता हुआ लग सकता है।'[2]

उपन्यास का कथाक्षेत्र सुविस्तृत है। कुमाऊं-काशी से लेकर, बम्बई-हालीवुड तक जाती हैं इसकी परिधियां। 'कसप' के क्षेत्र ही नहीं, बल्कि अन्तर्वस्तु में भी विस्तार को लेकर, डॉ० वागीश शुक्ल लिखते हैं—

'उपन्यास निश्चय ही 1910 की काशी से लेकर 1980 के 'हालीवुड' तक की अनुगूंजों से भरा है, लेकिन इन अनुगूंजों से उभरने वाला संगीत कुछ यों सा कहता रहता है कि ये हैं डी० डी० और बेबी, जिनके खानदान में माधवानल और कामकन्दला हो चुके हैं और जिनके यशस्वी पूर्वजों चन्द्रापीड़-कादम्बरी और पुररवा-उर्वशी को आप जानते ही होंगे।'[3]

दरअसल 'कसप' में प्रेम के चौखटे में महत्त्वाकांक्षाओं, तनावों तथा मनोवैज्ञा-

---

1. मनोहरश्याम जोशी : कसप, पृ० 54
2. डॉ० विजयमोहन सिंह : धराशायी गू से गर्वोन्नत हिमशिखर, तक : 'आलोचना' (जनवरी से जून 1983), पृ० 22, सम्पादक— डॉ० नामवर सिंह
3. डॉ० वागीश शुक्ल : आलोचना—जनवरी—जून 1982 पृ० 13, सम्पादक —डॉ० नामवर सिंह

निक प्रभावों का प्रतिफलन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से 'कसप' निश्चित ही एक बड़े 'कैनवास' को लेकर चलने वाला उपन्यास है, जो प्रेम की हर सम्भव परिणिति को छूता दिखाई पड़ता है और यही विस्तार डी० डी० और श्रीमती मैत्रेयी के पुन: साक्षात्कार तक जाता है।

उपन्यास का प्रारम्भ जितना 'खिलंदरापन' लिए है, अन्त उतना ही गम्भीर। विषाद और अवसाद का घना कोहरा उत्पन्न करता हुआ। पिता के देहावसान के बाद, उनके श्राद्ध के लिए आये हुए डी० डी० का अपने स्वर्गीय पिता को उसी चट्टान पर खड़े होकर श्रद्धापूरित अर्घ्य देना, जहां से कूदकर पिता ने प्राणांत किया था, ऐसा आध्यात्मिक कोटि का आर्तनाद लिए है कि एक गहरा सन्नाटा दूर-दूर की पहाड़ियों-घाटियों तक गूंजता अनुभव होता है। 'कसप' में संवेदना की इस गहरी प्रतिच्छाया को लेकर ही कुमायूं अंचल के सुप्रसिद्ध कथाकार तथा आलोचक बटरोही (डॉ० लक्ष्मण सिंह विष्ट) लिखते हैं कि—

'कसप' कुमाऊं के एक मध्यवर्गी ब्राह्मण परिवार का एक पारिवारिक चित्र है—अपेक्षया अन्तर्मुखी चित्र, जहां लेखक का उद्देश्य परिवार के माध्यम से व्यापक भारतीय समाज की ओर बढ़ना है। लेखक की औपन्यासिक ऐप्रोच 'शेष प्रश्न,' 'अपराध और दण्ड' तथा प्रसाद की कहानियों की तरह केन्द्रबिन्दु से वृत्त की ओर बढ़ने की है। यह स्थिति आज के इस विकसित युग में विचित्र अवश्य लगती है कि जहां एक ओर मूल मानवीय वृत्ति समाजोन्मुख बनती चली जा रही है, 'कसप' का लेखक उसे व्यक्ति-उन्मुख रूप में रेखांकित करना चाहता है। मगर उपन्यास व्यक्ति-इकाई पर नहीं, अपनी दृष्टि उस संवेदना पर केन्द्रित करता दिखाई देता है, जो व्यापक मानवीय संवेदना है।'[1]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि आंचलिकता को केन्द्र में न रखने के बावजूद अपने शिल्प-विधान में 'कसप' में भाषा के आंचलिक तत्त्वों का कुछ ऐसा गहरा समावेश है कि इस उपन्यास को हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के दायरे में ले आने को बहुत असंगत करार देना कठिन ही होगा।

---

1. बटरोही : 'मध्यवर्गीय कुमाऊंनी समाज के बहाने अतीत की अनुभव यात्रा' आलोचना : (जनवरी— जून 1983) पृ० 25, सम्पादक—डॉ० नामवर सिंह।

मूल्यांकन

'आंचलिक उपन्यासों का सृजन स्वतंत्रता के पश्चात् हुआ। इसका सम्बन्ध स्वतंत्रता के बाद 'गांधी की ओर चलो' के राजनीतिक सामाजिक नारों से भी हो सकता है और सामाजवादियों की ग्रामोन्मुखता 'ग्राम स्वराज्य' ग्रामोदय आदि के तत्कालीन अर्थ समानांतर राजनीतिक रूपान्तरणों से भी। आंचलिक उपन्यास में लेखक का उद्देश्य समग्र अंचल की कथा कहना है। 'समग्रता को सम्मिलित करने, अपने पक्षों को बांधने, कोण-वैविध्य के सम्पाद, अनेक जीवन-स्तरों को एक साथ रखने, समाज और व्यक्ति की चेतना के अनेक सूत्रों के संगठित करने के बहुमुखी प्रयत्न'[1] आंचलिक उपन्यास में किये जाते हैं। आंचलिक उपन्यासकार अंचल-विशेष की भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों, वहां के निवासियों की जीवन-शैली, बोली, विचार, मान्यताओं, अन्धविश्वास, नैतिकता, परम्पराओं, रूढ़ियों, तीज-त्यौहार, लोक-कथाओं, लोकगीतों, लोकनृत्यों के वर्णन-द्वारा सम्पूर्ण अंचल का उद्घाटन करता है। शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता के तत्त्वों का प्रभूत मात्रा में प्रयोग होने के बावजूद उन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता, इसका कारण यही है कि इन लेखकों का उद्देश्य 'आंचलिक उपन्यास' लिखना नहीं था। इसलिए नागार्जुन के उपन्यासों से ही आंचलिक उपन्यास-रचना का प्रारम्भ माना जाता है, परन्तु नागार्जुन के 'बलचनमा' या अन्य उपन्यासों में व्याप्त आंचलिकता उद्देश्य नहीं है, उसका उपयोग किया गया है, अर्धसामन्ती और अर्ध-औपनिवेशिक व्यवस्था के शोषण और अत्याचार को उजागर करने के लिए। इस दृष्टि से पूरा रचना-विधान एक प्रकार के राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रतीक का कार्य करता है। या तो इस प्रकार की आंचलिकता को छायावाद और प्रगतिवाद के मिश्रण की आंचलिकता कह सकते हैं, या 'रोमान्टिक प्रगतिशीलता' का कथात्मक व्यापार, क्योंकि उद्देश्य में लघु का महत् के लिए प्रयोग किया गया है, जो प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थ-

1. डॉ रामशरण मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 188-189

वाद या महतोन्मुख लघुवाद का ही रूपान्तरण है । हिन्दी में इस प्रकार की आंचलिकता 'अलग-अलग वैतरणी' और 'आधा गांव' और 'काला जल' और 'लाल-पीली जमीन' में पाई जाती है ।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान आंचलिक उपन्यास को एक अलग औपन्यासिक प्रकार के रूप में मान्यता ही नहीं देते । उनका कहना है कि—'आंचलिक उपन्यास को स्वतंत्र प्रकृति के रूप में मान्यता देना उसी तरह असंगत है, जिस तरह ऐतिहासिक उपन्यास को या ग्राम-कथा, नगर-कथा आदि को । उसका कारण यह कि काल-विशेष या देश-विशेष के आधार पर रचित किसी कृति को प्रवृत्ति की निश्चित नहीं किया जा सकता ।'[1]

कुछ अन्य आलोचक आंचलिक उपन्यासों को एक अलग प्रकार के रूप में स्वीकार करते हैं । उनका कथन है कि आंचलिकता एक विशेष प्रकार की प्रवृति है, जो उपन्यासों की सर्वग्रासी व्यापकता के समान्तर पनपती है और यह प्रवृत्ति अनुभव की सीमा से नहीं पैदा होती है । यही कारण है कि आंचलिक उपन्यासों में एक प्रकार का सहज आकर्षण पाया जाता है, जो सौन्दर्य, वेदना, यातना, शोषण, करुणा, नैतिकता, संघर्ष और सम्बन्धों का ऐसा जाल प्रस्तुत करता है, जो कि एक प्रकार की मूर्त्तता के कारण ठोस, जीवन्त और सहज लगता है । दूसरे प्रकार के उपन्यासों में औसतपन का भाव रहता है । फलतः चरित्र कई चरित्रों के औसत या टाइप लगते हैं । प्रेमचन्द के उपन्यासों में यह औसतपन है, लेकिन 'बूंद और समुद्र' 'वोरीवली से बोरीबन्दर तक' 'कसप' में यह औसतपन नहीं है । नागार्जुन में इतना औसतपन तो नहीं है, परन्तु ऐसी कोशिश के कारण गड़बड़ी पैदा होती है ।

आंचलिक उपन्यास स्वतंत्र विधा है, या नहीं, इसे स्पष्ट करने के पूर्व हमें इस बात पर विचार करना होगा कि 'विधा' से हमारा तात्पर्य क्या है । किसी भी कृति के रचना-विधान के मूल प्रकार को ही विधा की संज्ञा दी जाती थी । प्रत्येक विधा की अपनी स्वतंत्र संरचना होती है, जैसे—नाटक, कहानी, उपन्यास आदि । सभी विधाओं का रचना-विधान भिन्न-भिन्न है । कृति का रचना-विधान ही उसकी विधागत पहचान को सुनिश्चित कराता है । आंचलिक उपन्यासों का रचना-विधान औपन्यासिक ही है । यदि आंचलिक उपन्यास एक स्वतंत्र विधा है, तो आंचलिक के साथ 'उपन्यास' संज्ञा को क्यों जोड़ा जाता है ? इसका अपना कोई स्वतंत्र नाम क्यों नहीं है, जैसे कि नाटक, निबंध, आलोचना, काव्य, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं का ? आंचलिक नाटक अपने में स्वतंत्र विधा कैसे हो जायेगा ?

दरअसल 'आंचलिकता' विधा नहीं, बल्कि संरचनात्मकता की सूचक होती है । वस्तुतः आंचलिक उपन्यास अपने-आप में एक स्वतंत्र विधा नहीं, बल्कि उपन्यास-विधा की ही एक शाखा है, जिसका अपना निजी स्वरूप जरूर है, लेकिन रचना-विधान के विभिन्न अंगों, कथा-वस्तु, ढांचा, भाषा, शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास-विधा का

1. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० 10

विस्तार चाहे जितना करता हो, अतिक्रमण नहीं करता, इसलिए इसे स्वतंत्र विधा नहीं माना जा सकता।

आंचलिक उपन्यासों पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि इसकी सम्प्रेषणीयता अपने-अपने अंचलों तक ही सीमित होती है और सार्वदेशिकता का इनमें अभाव होता है, जबकि एक विशिष्ट अंचल के चित्रण में भी सार्वजनीनता बिल्कुल सम्भव है, बशर्ते रचनाकार में ऐसी संवेदना, दृष्टि और क्षमता हो। संवेदना के माध्यम से रचना में सार्वजनीनता उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि सुख-दुःख, राग-विराग अथवा उत्पीड़न शोषण की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में समान है, मानव प्रकृति या नियति के ये क्षेत्रीय नहीं, सार्वजनीन तत्व हैं।

प्रख्यात आंचलिक उपन्यासकार डॉ० मिश्र का कहना है—'सही दृष्टि तो यह है कि किसी उपन्यास में द्रष्टव्य-जीवन अपनी कितनी सच्चाई, संश्लिष्टता और समग्रता के साथ व्यक्त हुआ है और यह अपनी संवेदना की गहराई तथा मानवीयता के कारण वृहत्तर मानव-सत्य को कहां तक स्पर्श करता है।'[1] 'रागदरबारी' में शिवपालगंज कस्बे के राजनैतिक चित्रण के जरिये सम्पूर्ण भारत में व्याप्त भ्रष्ट राजनैतिक स्थितियों पर व्यंग्य किया गया है। इस उपन्यास के एक कथन से इसकी पुष्टि की जा सकती है—'मुझे तो लगता है, दादा सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है।'[2]

आंचलिक उपन्यासों में सार्वजनीनता बनाये रखना अत्यन्त कठिन कार्य है, इसीलिए उन उपन्यासों को, जो आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखे तो जाते हैं और उनमें यदि सार्वदेशिकता मिलती है, तो अंचल की गहरी और व्यापक पकड़ नहीं मिलती, बहुत दावे के साथ आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। 'एक औसत, आंचलिकपन' आंचलिकता के बुनियादी सारतत्वों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। जिन उपन्यासों में अंचल की विशिष्टताओं का समग्रता में चित्रण हुआ है, उनमें कई बार सार्वजनीनता की पकड़ छूट जाती है। यही कारण है कि बहुत-कम आंचलिक उपन्यास ऐसे हैं, जो सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से सार्वदेशिक बन पाये हैं। इस कठिन कार्य को रचनात्मक-भाषा के प्रयोग से साधा जा सकता है—'भाषा की रचनात्मक शक्ति के द्वारा बोली की सामर्थ्य पैदा करना और इस प्रकार एक केन्द्र से वृत्त को व्यापक बनाते जाना, सार्वजनीनता और मानवीयता का प्रमाण है।'[3]

सफल आंचलिक लेखक उसे ही कहेंगे, जिसमें अंचल की सामान्य-से-सामान्य बात को भी विशिष्ट तथा उस विशिष्टता में भी सार्वजनीनता बनाये रखने की रचनात्मक क्षमता हो। सुरेन्द्रपाल के उपन्यास 'लोक-लाज खोई' के साथ में डॉ० सुरेश सिन्हा कहते हैं—'इधर आंचलिक उपन्यासों में जान-बूझकर जिस प्रकार टेढ़ी-मेढ़ी भाषा और स्थानीय

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 9, सम्पादक—डॉ० राम-दरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त
2. श्रीलाल शुक्ल : रागदरबारी, पृ० 404
3. डॉ० रामदरश मिश्र : यह पथबन्धु था : एक अध्ययन, पृ० 198

शब्दों का प्रयोग किया जाता है। सन्तोष की बात है, आंचलिकता के गुणों की पूर्ण रक्षा करते हुए भी सुरेन्द्र का यह उपन्यास इससे बचा रह गया है, जिससे उसकी सार्वजनीनता में यथेष्ट अभिवृद्धि हुई है।'[1]

विशुद्ध आंचलिक उपन्यास होते हुए भी 'मैला आंचल', 'कब तक पुकारूं' और 'बलचनमा' को सम्प्रेषणीयता के स्तर पर सार्वजनीन बनाने की कोशिश की गई है। सार्वजनीनता आंचलिकता की विरोधी नहीं है और न इतना बड़ा गुण ही है कि उसे उपन्यास के प्रमुख प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाय। आंचलिक उपन्यासों में नायकत्व या विशिष्टता यदि अंचल मान ली जाय, तो ऐसे आंचलिक उपन्यास एक विशेष प्रकार की छविमयता का निर्माण करने के कारण निश्चय ही उपन्यास के उस महत्वपूर्ण गुण से रिक्त हो जायेंगे, जिसे मनुष्य को परिभाषित करते रहने का विराट प्रयत्न कहा है। उपन्यास परिभाषित करने के इसी प्रयत्न में एक ऐसे प्रतिजगत का निर्माण करता है, जो बदले या बदलते हुए मनुष्य का उसकी कमियों, उपलब्धियों, संघर्षों और विशिष्टताओं के आधार पर एक समग्र अनुभव हो सके। आंचलिकता को आधार बनाकर भी 'मैला आंचल' में रेणु ने यही किया है। यह सही है कि उसकी संरचना में आंचलिकता का प्रयोग एक अखंड दर्पण के रूप में किया गया है, जिसमें अंचल के बाहर की दुनिया का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है।

रेणु ने प्रतीकात्मकता का संकेत तो स्वयं किया है कि—'मैला आंचल' पूर्णतया बिहार राज्य का एक जिला है। इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल। विभिन्न सीमा-रेखाओं से उसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है, जब हम दक्खिन में सन्थाल-परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमारेखायें खींच देते हैं। मैंने उसके एक हिस्से के एक ही गांव को—पिछड़े गांवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास कथा का क्षेत्र बनाया है।'[2]

और 'परती-परिकथा' के लिए रेणु ने जो क्षेत्र चुना है, वह 'धूसर, वीरान अन्तहीन प्रान्तर! पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती...। धरती नहीं धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई है बालूचरों की पंक्तियां। उत्तर-नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि। जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।'[3]

दूसरे आंचलिक उपन्यासकार डॉ० रामदरश मिश्र ने 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ', दोनों उपन्यासों के लिए कछार अंचल को चुना है। 'जल टूटता हुआ' की भूमिका में वह कहते हैं—'यह भू-भाग चारों ओर से नदियों से घिरा हुआ है—यह बीहड़ कछार है। आज भी आधुनिक सुविधाओं से काफी हद तक वंचित। इस भूभाग

1. डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास, पृ० 5
2. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल, भूमिका
3. परती-परिकथा, पृ० 9

की प्राकृत स्थिति और उससे प्रभावित जीवन की वास्तविकताएं इसे एक विशेष चरित्र प्रदान करती हैं। चरित्र की यह विशेषता मेरी सर्जनात्मकता को चुनौती देती है। इस भू-भाग के चरित्र की विशिष्टता ही तमाम भू-भागों की सामान्य भीड़ में उसे खोने से बचायेगी।'[1]

ये उदाहरण इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि वृहत्तर दायरे के सामने एक सीमित परिदृश्य प्रस्तुत करने से आंचलिकता भ्रमित होती है, परन्तु यह केवल तुलनात्मक दृष्टि है, क्योंकि विशिष्ट स्थल की तलाश चित्र की आवश्यकता है और संवेदनात्मक दबाव के कारण समग्र परिदृश्य को देख सकने और वर्णित-चित्रित कर सकने की विवशता भी हो सकती है। रेणु के दोनों उपन्यासों में परिदृश्य बदला हुआ है। यह बदलाव गहन आग्रह के कारण नहीं, बल्कि राजनैतिक बदलाव की योजनागत दृष्टि के कारण भी है। इसलिए आंचलिकता का विश्लेषण करते समय सन्दर्भ और विस्तार के साथ संवेदित-समेकित दृष्टि का भी आकलन करना अनिवार्य हो जाता है।

आंचलिक उपन्यास का क्षेत्र ग्रामांचल, नगरांचल, पर्वतांचल, समुद्रतटीय अंचल, नदी-तटीय अंचल, कस्बे, कालोनी से लेकर विशिष्ट मुहल्ले तक विस्तृत है। वस्तुतः आंचलिक उपन्यास का क्षेत्र भौगोलिक विशिष्टता तक ही सीमित नहीं है। विशिष्ट जाति, जनजाति, आदिवासियों तक यह क्षेत्र विस्तृत होता चला गया है। ग्रामांचल पर आधारित उपन्यासों में 'बलचनमा' 'मैला आंचल', 'परती-परिकथा' 'बाबा बटेसरनाथ', वरुण के बेटे, दुखमोचन, रतिनाथ की चाची, नई पौध, सागर, लहरें और मनुष्य, लोक-परलोक, उल्लेखनीय हैं। नगरांचलों को लक्ष्य बनाकर लिख गये उपन्यासों में 'बूंद और समुद्र', बोरीवली से बोरीबन्दर तक, समुद्रतटीय अंचल का वर्णन 'सागर, लहरें और मनुष्य' में 'एक बीघा प्यार', 'जुलूस' में नवीननगर कालोनी, 'बूंद और समुद्र' में लखनऊ का चौक मुहल्ला, 'ब्रह्मपुत्र', 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' में नदी तटीय अंचल, आदिवासियों की जीवनशैली पर आधारित उपन्यासों में 'जंगल के फूल' 'सूरज किरन की छांव' 'धूपछांव', 'रथ के पहिये', 'धीरे बही गंगा', 'बेला फूले आधीरात, 'कस्तूरी', पर्वतीय अंचल पर आधारित उपन्यासों में 'कसप', 'एक टुकड़ा इतिहास' 'कगार की आग' तथा 'चिट्ठीरसैन', 'हौलदार' 'बंगाल के तट पर', आदि उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, चरित्र-चित्रण प्रधान या वैयक्तिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की ही भांति आंचलिक उपन्यासों का भी अपना अलग स्वरूप है। डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी के अनुसार—'आंचलिक उपन्यास राष्ट्रीय उपन्यास का ही एक सीमित, संकुचित रूप है, जिसमें लेखक उसके अन्तरंग जीवन को इस प्रकार उभारता है कि अनन्य सामान्यता पाठक पर स्पष्ट हो जाये, उसके प्रति वह सचेत हो जाये और देश के अन्य भागों और उसके बीच विभेद-रेखा स्पष्ट देख सके।'[2]

आंचलिक उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण में उद्देश्य, वस्तु, भाषा-शिल्प की विशिष्ट

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, भूमिका
2. डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 190

भूमिका होती है। आंचलिक उपन्यासों में उद्देश्य, वस्तु, भाषा, शिल्प के धरातल पर नूतन प्रयोग देखने को मिलते हैं। आंचलिक उपन्यास में लेखक का उद्देश्य अंचल को उसकी अधिकतम सघनता और समग्रता में उद्‌घाटित करना होता है। भाषा, वस्तु, शिल्प का प्रयोग भी इस प्रकार किया जाता है, जिससे अंचल का अपना परिवेशगत स्वरूप उभर सके। आंचलिक उपन्यासों में प्रयुक्त 'आंचलिकता' का विशिष्ट प्रयोग भी आंचलिक उपन्यास को अन्य प्रकार के उपन्यासों से भिन्न स्वरूप प्रदान करता है। आंचलिकता का ऊपरी अथवा सीमित प्रयोग तो अन्य प्रकार के उपन्यासों में भी मिलता है, परन्तु जैसा सघन और विशिष्ट प्रयोग आंचलिक उपन्यासों में मिलता है, वैसा अन्य उपन्यासों में नहीं मिलता।

आंचलिक उपन्यास का स्वरूप दूसरे प्रकार के उपन्यासों से ही भिन्न नहीं होता, बल्कि एक ही अंचल या क्षेत्र पर लिखे उपन्यासों में भी भिन्नता मिलती है। कई आंचलिक लेखक यदि एक ही अंचल पर आंचलिक उपन्यास लिखें, तो इसमें भी आंचलिकता के प्रयोग या स्तर में अन्तर होगा। यही कारण है कि किसी उपन्यास में सघन आंचलिकता का कलात्मक प्रयोग मिलता है, तो किसी में आंचलिकता का वैसा सघन प्रयोग नहीं मिलता। कहीं क्षेत्र आंचलिक है, परन्तु उसमें वस्तु-विन्यास में सार्वदेशिकता झलकती है, तो किसी में दृष्टि ही आंचलिक हो गई है। कहीं सिर्फ भाषा में आंचलिकता झलकती है, कहीं किसी आंचलिक उपन्यास में आंचलिकता का हल्का संस्पर्श-भर मिलता है। 'आंचलिकता' का पूरी औपन्यासिक संरचना में समावेश नहीं मिलता।

लेखक के स्वानुभव से किये गये अंचल के चित्रण में तथा सतही तौर पर देख-परखकर किये गये अंचल के चित्रण से भी आंचलिक उपन्यास के स्वरूप में अन्तर उत्पन्न होता है। कुल मिलाकर आंचलिक उपन्यास का स्वरूप ऐसा होता है, जिसमें एक विशिष्ट अंचल की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों तथा उस अंचल के लोगों का रहन-सहन, वेशभूषा, मान्यतायें आचार-विचार, रीति-रिवाज सभी अंचल की भौगोलिक विशिष्टता के साथ उद्‌घाटित होते हैं। उपन्यासों की बनावट में ये सभी एक प्रकार का संयोजन (कम्पोजीशन) बनाते हैं। रीति-रिवाज, लोक-गीत, बोली का प्रयोग आंचलिक उपन्यासों में सामान्य से ध्यान खींचकर विशिष्टता की ओर ध्यान ही नहीं दिलाते हैं, बल्कि समग्रता और एकतानता के प्रवाह में एक प्रकार का विभाजन या बिखराव भी पैदा करते हैं। भाषा में बोली के अप्रयुक्त शब्दों, देशज और तद्‌भव शब्दों का प्रयोग जैसा कि विजयदेवनारायण साही ने लिखा है, सिलवटों के लिए किया जाता है। यह प्रयोग अवधी, ब्रज, मैथिली, भोजपुरी बोली या शब्दों के द्वारा ही नहीं किया जाता, बल्कि हिन्दी भाषा के एकतान प्रवाह में अंग्रेजी भाषा के शब्दों या वाक्यों के द्वारा भी किया जाता है। 'नदी के द्वीप' और 'अनित्य' इसी प्रकार के उपन्यास हैं, जो वर्गाश्रयी दृष्टि का संकेत करते हैं और निश्चय ही अपने भाषिक प्रयोग और उपन्यास की बनावट से भारतीय समाज के अंग्रेजी-हिन्दी पढ़े-लिखे विशेष वर्ग को केन्द्रीयता प्रदान करते हैं। इस तर्क से अभूतपूर्व कलासामर्थ्य के बावजूद,

आंचलिक उपन्यासकारों की सामर्थ्य 'नदी के द्वीप' से कम नहीं है। रीति-रिवाज और लोकगीतों के स्थान पर कहीं आधुनिकता और अंग्रेजी की कविताएं प्रयुक्त की गई हैं। नागर जी अपने उपन्यासों में भाषिक वैचित्र्य से वर्ण, वर्ग, जाति, पेशों और स्थान आदि का संकेत करके, कई आंचलिकताओं के समन्वय और एकता का भी संकेत करते हैं। 'बूंद और समुद्र' तथा 'करवट' इसका प्रमाण हैं।

आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु में सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक चरित्र-चित्रण को विशेष अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया जाता। लेखक इनका उपन्यास में सिर्फ उतना ही उपयोग करता है, जितना एक विशिष्ट अंचल के समग्र चित्रण में आवश्यक होता है। यह भी एक सामान्य धारणा मिलती है कि आंचलिक उपन्यास में अनेकानेक छोटी-बड़ी कथाओं का समावेश किया जाता है, परन्तु कोई भी कथा मुख्य या आधिकारिक नहीं होती। सभी कथायें मिलकर अंचल के चित्रण में सहयोग देती हैं। इन कथाओं के सूत्र आपस में नहीं मिलते। कथा-संगठन ढीला होता है। हालांकि इस धारणा को सभी आंचलिक उपन्यासों पर नहीं थोपा जा सकता।

आंचलिक उपन्यास में चूंकि एक पिछड़े अंचल या क्षेत्र को लिया जाता है, इसलिए गरीबी, अन्ध-विश्वास, रूढ़ियों, शोषण का चित्रण इनमें होता है। उदाहरण के लिए निरसू भगत 'परती-परिकथा' में परमादेव की असवारी और मलारी पर दुलारीनाथ की असवारी, 'मैला आंचल' में ही अपने मरे हुए पुत्र को जिन्दा करने के लिए जोतावी काका के बहकाने पर नरेश की नानी की हत्या कर देता है। 'जिन्दगीनामा' में भूत भगाने का मंत्र इस प्रकार है—

'काली चरी, चार चरी
काट-काट देही को खाये
पानी बहाये समुद्र का भूत
चुड़ैल भस्म हो जाये।
काली चरी चार चरी, काट-काट...'[1]

शोषण का चित्रण यों प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में मिलता है। उदाहरण के लिए 'बलचनमा' में बलचनमा अपने पिता पर हुए बर्बर अत्याचार का वर्णन करते हुए कहता है—'अपने जीवन की सबसे पहली घटना जो मुझे याद है—मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को एक हवेली के सहारे कसकर बांध दिया गया है। आंख, चूतर, पीठ और बांह सभी पर बांस की हरी कैली के निशान उभर आये हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है।'[2]

पुलिस-द्वारा नटों पर किये गये अमानवीय अत्याचारों का वर्णन सुखराम के शब्दों में इस प्रकार देखा जा सकता है—'सिपाही में बड़ी ताकत होती है। वह राजा

---

1. कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा, पृ० 163
2. नागार्जुन : बलचनमा, पृ० 135

का आदमी होता है। वह सबसे घूस लेता है। गांव के लोग उससे डरते हैं। वह बड़ी जातों में उठता-बैठता है। वह जिधर जाता है, उधर ही नट दौड़कर छिप जाते हैं। हम तो यही देखते आ रहे थे कि चाहे जब चाहे जिस नटनी-कंजरिया को पकड़कर ले जाता है। हम सब उससे डरते थे, क्योंकि वह थाने में पकड़ ले जाता। वहां हमें चोर कह देता था। फिर हम लोग बेंतों से पिटते थे। कभी-कभी गुड़ के पानी के छींटे दे दिए जाते थे, जिससे चींटे लग जाते थे और देही सूख जाती थी। फिर उसकी बात ही सच मानी जाती थी। हमें हमेशा गाली दी जाती थी। ज्यादा किसी ने सिर उठाया, तो वह जेल की हवा खाता था। चक्की पीसते-पीसते उसकी धज्जियां उड़ जाती थीं।'[1]

आंचलिक उपन्यासों में यातना या अत्याचार का चित्रण और वर्णन केवल स्थानीय विशेषता बनकर ही नहीं रहता है, वह रूपांतरित होकर व्यापकता भी ग्रहण करता है, परन्तु यह बीच-रचना में झलकता है कि इस शोषण और अपमान का कारण उसका देहाती और इस स्थल खण्ड का देहाती होना है, जो पूरी दुनिया से जुड़ा होने पर भी भिन्न है। अन्धविश्वासों और कुरीतियों को स्थल या अंचल-विशेष की दुनिया और जिन्दगी की इकाई का हिस्सा बनाकर प्रस्तुत किया जाता है, वहीं यह भी दृष्टि रहती है कि इस सबकी जकड़न टूटनी चाहिए; क्योंकि यह सब अन्ततः शोषण और अत्याचार को जिन्दा रखने में सहायक हैं। 'मैला आंचल' और 'अलग-अलग वैतरणी' में यह प्रतीति प्रबल है।

'आंचलिक उपन्यास एक अर्थ में यथार्थ के अधिक निकट होता है, क्योंकि वह पात्र ही नहीं, परिवेश को भी एक सघनता में उठाता है। अंचल का सम्पूर्ण स्वाभाविक और जीवंत चित्रण करने के लिए लेखक को अंचल के यथार्थ के अधिकाधिक निकट होना ही पड़ता है; क्योंकि यथार्थता की हर बारीकी को उभारना, उसके प्रति निष्ठा, यथार्थ भूखण्ड के निश्चित स्थल पर दैनन्दिन जीवन में जो शिल्प-व्यापार घटित होते हैं, उनका सजग चित्रण, अस्पष्ट, धूमिल वायवीय का दृढ़तापूर्वक निरसन तथा यथार्थ के साथ दृढ़ सम्पर्क—ये आंचलिक उपन्यास की विशेषताएं हैं। इस दृष्टि से सत्य की प्रतीति जगाकर पाठक के मन में संवेदना के तार झंकृत कर देना आंचलिक उपन्यासकार के लिए सहज होता है।'[2]

आंचलिक उपन्यासकारों के अध्ययन से जो भी नतीजे निकले, वे सिर्फ स्थानीयता को छोड़कर प्रायः सभी उपन्यासों में समस्याओं और सन्दर्भों का सामान्यीकरण भी प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु रचनाकारों ने अपने कौशल से चित्रण का वस्तु में रूपांतरण करके उसे नवीन भी बनाया है, बल्कि यही उनकी रचनात्मकता का प्रमाण भी है।

नागार्जुन के उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष और साम्यवादी प्रभाव मुख्य रूप से मिलता है। इनके सभी उपन्यासों का क्षेत्र मिथिला अंचल ही है। नागार्जुन के आंचलिक उपन्यासों में 'बलचनमा' का स्थान सर्वोपरि है। जमींदारों के शोषण या, अत्याचार, अमानवीयता

1. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 60
2. डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : हिंदी उपन्यास : एक सर्वेक्षण, पृ० 195

का शिकार गरीब किसान और मजदूर होते हैं। और कमीन परिवार का बलचनमा बचपन से लगातार अन्याय देखते-देखते सोशलिज्म से प्रभावित होकर क्रांतिकारी बन जाता है। बाबा बटेसरनाथ में बूढ़े वटवृक्ष का मानवीकरण किया गया है। इसमें जमींदारी अत्याचार और शोषण की प्रवृत्ति मिलती है। जमींदारी-उन्मूलन के समय जमींदार जमीन के लिए तरह-तरह की धांधलियां करते हैं। 'वरुण के बेटे' में गरीब मछुआरों के संघर्ष की कथा है। बाढ़ से सारी सफल नष्ट हो जाती है, इसलिए जीविका का मुख्य आधार मछली ही है। तभी पोखर के बारे में औघड़ बाबा कहते हैं—'यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे। सरोवर का पानी मामूली पानी नहीं, यह तो हमारे शरीर का लहू है, जिन्दगी का निचौड़ है।'[1] 'रतिनाथ की चाची' में विधवा ब्राह्मणी गौरा की करुण कथा है। देवर उमानाथ भाभी की अमावस की रात में उससे वासना तृप्त करता है। गौरा मुहल्ले वालों की लांछना ही नहीं, अपने पुत्र तक का उपालम्भ सहकर भी उमानाथ का नाम तक नहीं देती। वास्तविकताओं के इस उद्घाटन से स्थल का अंचल का वैशिष्ट्य टूटकर एक प्रकार की प्रतिनिधिकता ग्रहण करता है और व्यापक मानवीय करुणा तथा वेदना उत्पन्न करता है।

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आंचल' में पूर्णिया ज़िले के मेरीगंज गांव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों को चित्रित किया है। स्वतन्त्रता के बाद के बदलते हुए दौर में कांग्रेसी, समाजवादी और साम्यवादी राजनीति के स्वरूप का यथार्थ अंकन 'मैला आंचल' में है। अंचल के जीवन में अच्छे और बुरे, दोनों पक्षों का सम्यक् चित्रण इसमें है—'इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाल भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुन्दरता भी है, कुरुपता भी।'[2]

'परती-परिकथा' में 'मैला आंचल' की ही कथा का विकास अत्यन्त मन्दगति से होता है। कोसिका मेधा की पौराणिक कथा, भूमि की समस्या, चकबन्दी, लैण्ड सर्वे, जमींदारी-उन्मूलन, दंता-राकस की कथा, डूबी रानी की कथा, कोहबर रांड़ी की कथा, सुन्नरि नेका की कथा, जितेन्द्र-ताजमनी, दिल बहादुर-कांछी माया, सुवंश मलारी की प्रेमकथाओं, कोसी बांध योजना, पंचायत, मुकदमेबाजी से इस उपन्यास की विषय-वस्तु का ताना-बाना बुना गया है। 'जुलूस' में रेणु ने गोडियार गांव की नवीन नगर कालोनी को अपने उपन्यास की कथा के लिए चुना है। पूर्वी बंगाल से आये हुए शरणार्थियों की दुर्दशा, खासकर युवतियों को बेचने तथा उनसे खिलवाड़ किए जाने को यथार्थ ढंग से चित्रित किया गया है।

रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में राजस्थान के वैर गांव के जरायमपेशा करने वाले करनटों के सामाजिक शोषण का चित्रण ही है। ये करनट जीविका चलाने के लिए चोरी करते हैं। ढोल मढ़ते हैं, हिरन की खाल, कस्तूरी, शहद, रोध की सींग,

---

1. नागार्जुन : वरुण के बेटे, पृ० 33
2. फणीश्वरनाथ रेणु—भूमिका

दवादारू बेचते हैं, खेल दिखाते हैं तथा भीख भी मांगते हैं। आपस में शादी-ब्याह करते हैं, हिन्दू देवी-देवताओं को मानते हैं, स्त्रियों को मजबूरी में देह भी बेचनी पड़ती है।

उदयशंकर भट्ट ने 'सागर, लहरें और मनुष्य' में बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे बरसोवा गांव के मछुआरों की जीवन-शैली का चित्रण किया है। समुद्र में उठने वाले तूफान, उसकी लहरों की अठखेलियों, गर्जन तथा समुद्र की पूजा का भी इस उपन्यास की विषय-वस्तु में समावेश किया गया है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' में अंचल की जगह पात्र (रत्ना) को अधिक महत्व मिला है। यह किसी एक गांव को केन्द्र नहीं बनाता। इसमें बरसोवा ग्राम ही नहीं, बम्बई का नगरीय जीवन भी चित्रित है।

'अलग-अलग वैतरणी' में स्वतन्त्रता के पश्चात् जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से करैता गांव में बिगड़ते मानवीय सम्बन्धों, मूल्यहीनता, अनैतिकता, लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट, गुंडागर्दी का यथार्थ चित्रण है। करैता का सुधार उसकी उन्नति चाहने वाले विपिन, मास्टर शशिकांत, खलील मियां, डॉ० देवनाथ, करैता में होने वाले अनाचारों से ग्रस्त होकर, गांव छोड़कर चले जाते हैं। ठाकुरों और चमारों का वर्ग-संघर्ष भी 'अलग-अलग वैतरणी' की कथा-वस्तु का एक हिस्सा है।

रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' में गौरा और राकसी, दो नदियों के कछार अंचल की कथा है। ग्राम पांडेपुरवा की सामाजिक, राजनैतिक, स्थितियों, मान्यताओं, अन्धविश्वासों, शोषण, प्लेग, अकाल और बाढ़ से उत्पन्न विनाशकारी स्थितियों को इसमें चित्रित किया गया है। उपन्यास में आशावादी दृष्टिकोण है। इसमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तथा 'जल टूटता हुआ' में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् की कथा है। 'पानी के प्राचीर' का आशावादी दृष्टिकोण इसमें ध्वस्त होता नजर आता है, इसीलिए लेखक ने शीर्षक 'जल टूटता हुआ' प्रतीकात्मक रूप में रखा है। जल के टूटने के बिम्ब से ग्रामवासियों में स्वाधीनता से जगी आकांक्षाओं के टूटने का चित्र उपस्थित किया गया है। तिवारीपुर अंचल में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्तर में गिरावट आई है। शोषक जमींदार महीप सिंह तिवारीपुर के गरीब मजदूर किसानों का शोषण करते हैं। महीप सिंह के यहां काम करने वाला जगपतिया ही उसका विरोध करता है। तिवारीपुर एक पिछड़ा गांव है। अधिकांश लोग बाढ़, गरीबी और साधनहीनता व अन्धविश्वासों से ग्रस्त हैं। अस्पताल के अभाव में मास्टर सुग्गन की लड़की गीता और फैंकू बाबा की बहू की प्रसव-पीड़ा से मृत्यु हो जाती है।

'आधा गांव' में राही मासूम रजा ने मुख्यतः पूर्वी उत्तर प्रदेश के भोजपुरी-उर्दू बोलने वाले शिआ मुसलमानों की जीवन-शैली पर प्रकाश डाला है। लेखक को अपनी गंगोली से बहुत प्रेम है और वह गंगोली में गुजरने वाले समय की कथा के बहाने, उनकी संवेदना को एक-दूसरे के प्रति जगाकर, हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम रखना चाहता है। हिन्दू-मुस्लिम बंटवारे से हुई प्रतिक्रियाओं, मोहर्रम, महफिल, मजलिस, सोजखानी, पेशखानी, मरसिया, नौहा, मन्नत, अनैतिक सम्बन्धों तथा गाली-गलौज आदि समस्याओं तथा सामाजिक कार्य-कलापों का इस उपन्यास की कथावस्तु के निर्माण में उपयोग किया गया है।

मनोहरश्याम जोशी का 'कसप' कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इस उपन्यास में, सत्रहवें वर्ष में प्रवेश करने वाली बेबी मैत्रेयी और बाईस वर्षीय साहित्यिक-सिनेमा-अभिरुचि सम्पन्न देवीदत्त तिवारी, उर्फ डी० डी० की प्रेमकथा का वर्णन है। किशोर प्रेम पर आधारित इस कथा में कुमाऊं अंचल की विशिष्टताओं का वर्णन तो है, परन्तु मूलतः यह विषय-वस्तु में अंचल विशेष की स्थानीय विशिष्टताओं या समस्याओं को केन्द्र में रखकर चलने वाला आंचलिक उपन्यास न होकर, प्रणय-कथा ही है।

कृष्णा सोबती के चर्चित उपन्यास 'जिन्दगीनामा' में पंजाब की सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक जीवन-शैली का जीवन्त चित्रण मिलता है। यहां के लोग काफी खुशहाल हैं। गरीबी, अभाव, जहालत, शोषण, जो कि सामान्यतः आंचलिक उपन्यासों में मिलता है, यह इस उपन्यास में नहीं मिलता। दृष्टि आंचलिक होने के कारण उपन्यास में सार्वदेशिकता का अभाव है।

नरेश मेहता का 'यह पथ बन्धु था' बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के सामाजिक जीवन-मूल्यों एवं मान्यताओं पर आधारित है। निष्ठावान ब्राह्मण कुल में उत्पन्न श्रीधर मिडिल स्कूल में हिन्दी, इतिहास, भूगोल के अध्यापक हैं। श्रीधर के सात वर्ष से पचास वर्ष के प्रौढ़ हो जाने तक की कथा इस उपन्यास में है। पच्चीस वर्ष की अवस्था में श्रीधर बाबू नौकरी से त्यागपत्र देकर पुरुषार्थ की खोज में घर छोड़कर निकल आते हैं। प्रौढ़ावस्था में पहुंचकर महसूस करते हैं कि सारा जीवन व्यर्थ हो गया। निराश होकर इन्दु दीदी के कहने पर घर लौटते हैं। तब तक सारा परिवार तितर-बितर हो जाता है। उनके घर पहुंचने के पहले ही मां-बाप की मृत्यु हो जाती है। भाइयों में घर का बंटवारा हो जाता है, बड़ी पुत्री गुनी ससुराल से अपाहिज होकर लौटती है। छोटी पुत्री सुशीला का ब्याह हो चुका होता है। पुत्र को सरो अपने मां-बाप के पास भेज देती है। पत्नी सरो की मृत्यु उनके पहुंचने के कुछ समय बाद हो जाती है। गुनी को भी वे अपनी ससुराल भेज देते हैं और अकेले रहकर 'मानवता का इतिहास' लिखना प्रारम्भ करते हैं।

'चिट्ठीरसैन' में शैलेश मटियानी ने पीताम्बर चिट्ठीरसैन और मोहन सिंह की विधवा पत्नी रमौती की प्रेमगाथा का वर्णन किया है। 'चौथी मुट्ठी' में कौंशिला और मोतिमा मस्तानी की कथा है। 'हौलदार' में डूंगर सिंह हवलदार बनने की इच्छा लेकर फौज में भर्ती होता है, परन्तु ट्रेनिंग के दौरान अपने ही पैर में गोली मारकर लंगड़ा होकर गांव लौट जाता है। इसी डूंगर सिंह के हवलदार न बन पाने की कुण्ठा और हीन-भावना का मर्मस्पर्शी चित्रण इस उपन्यास की विषय-वस्तु है। ये तीनों ही उपन्यास कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं।

कुमाऊं परिवेश पर ही लिखे गए हिमांशु जोशी के 'बुरुंश फूलते तो हैं' और 'अरण्य' उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं, जिनमें कुमाऊं की संस्कृति और वहां के निवासियों के दुःख, अभाव और समस्याओं का चित्रण है। हिमांशु जोशी ने ही 'कगार की आग' में अल्मोड़ा के लधौन गांव के समाज-द्वारा बहिष्कृत-तिरस्कृत लोहारों-शिल्पकारों के दुःख-मय और कष्टमय जीवन की कथा कही है। गोपाल उपाध्याय के 'एक टुकड़ा इतिहास' उपन्यास में हरिजन-सवर्ण जातीत द्वन्द्वों को उभारा गया है और इस समस्या पर गहराई

तक जाने वाला यह एक महत्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है। 'ब्रह्मपुत्र' में देवेन्द्र सत्यार्थी ने ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसे दिसांगमुख गांव के निवासियों की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का चित्रण किया है। 'ब्रह्मपुत्र' नदी की बाढ़ से प्रभावित लोगों की समस्याओं को भी इसमें वर्णित किया गया है।

गोविन्द मिश्र ने 'लाल-पीली जमीन' में बुन्देलखण्ड के एक कस्बे के हिंसात्मक माहौल को अपने उपन्सास की विषयवस्तु बनाया है। जहां के लोगों का काम तीतर लड़ाना, अखाड़ेबाजी करना, हिंसा, नारेबाजी, जुलूस और लड़ाई-मारपीट करना, स्कूली लड़कों का आपस में समलैंगिक यौन-सम्बन्ध रखना, औरतों को पीटना, लड़कियों को बेइज्जत करना, उन्हें फांसना, परीक्षा न होने देना है। दिशाहीन निम्न-मध्य युवा वर्ग की शक्ति अपराध और आवारागर्दी में विनष्ट होती है।

'लोकऋण' विवेकी राय का महत्त्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है। इसमें रामपुर गांव के सामाजिक, शैक्षिक, राजनीतिक दृष्टि से गिरते जा रहे स्तर को वर्णित किया गया है। 'जंगल के फूल' में राजेन्द्र अवस्थी ने बस्तर के जंगलवासी आदिवासियों की आदिम प्रवृत्तियों, उनकी जीवन-शैली और घोटुल संस्कृति को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। बलभद्र ठाकुर ने 'मुक्तावली' में मणिपुर के वर्ग-वैषम्य और लोकतत्वों का वर्णन किया है। 'नेपाल की वो बेटी' में नेपाल के एक पहाड़ी गांव के रहन-सहन, बोली और पहनावे का तथा 'आदित्यनाथ' में कुल्लू घाटी के जन-जीवन का वर्णन है।

'बहती गंगा' में शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने सत्रह तरंगों के द्वारा बनारस की स्थानीय विशिष्टताओं का चित्रण किया है। कतिपय विद्वानों ने अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' को भी आंचलिक उपन्यास माना है, पर वस्तुतः उपन्यास में लखनऊ के चौक मुहल्ले के मध्यवर्गीय नागरिक जीवन का चित्रण है। शीर्षक प्रतीकात्मक है। 'बूंद' व्यष्टि का प्रतीक है और 'समुद्र' समष्टि का। इसी व्यष्टि और समष्टि के समन्वयन का प्रयास उपन्यास में किया गया है।

अंचल के जीवन का समग्र चित्रण करने के कारण आंचलिक उपन्यास में पात्रों की एक बड़ी भीड़ इकट्ठा की जाती है। पात्र सामान्य ही होते हैं। चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, न ही किसी व्यक्ति-विशेष को। सामूहिक रूप से चरित्र-चित्रण होता है, इसीलिए आंचलिक उपन्यासों में बड़े चरित्र की सम्भावना कम रहती है। फिर भी 'बलचनमा' उपन्यास का 'बलचनमा', 'मैला आंचल' में डॉ० प्रशांत, बावनदास, 'परती-परिकथा' में जितेन्द्र-ताजमनी, 'कब तक पुकारूं' में सुखराम, प्यारी और कजरी, 'सागर, लहरें और मनुष्य' में रत्ना, 'रतिनाथ की चाची' में गौरी, 'हौलदार' में डूंगर सिंह इत्यादि पात्र चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सशक्त कहे जा सकते हैं।

आंचलिक उपन्यास में अंचल-विशेष का समग्र और यथार्थ चित्रण अपेक्षित होता है, इसलिए अंचल का स्वाभाविक, यथार्थपरक और जीवंत चित्रण करने के लिए उपन्यास की भाषा में आंचलिक बोली का पुट देना पड़ता है। 'भाषा ऊपर से ओढ़ी हुई चीज नहीं होती, वह स्थान-विशेष के लोगों के संस्कारों और अनुभूतियों के साथ अनिवार्यतः जुड़ी होती है। अतः कुछ शब्द और मुहावरे इस प्रकार वहां के जीवन-सत्यों के साथ जुड़े

होते हैं कि वे सत्य-विशेष के साथ स्वतः लगे हुए चले आते हैं।'[1]

सभी आंचलिक उपन्यासकारों ने उपन्यास की भाषा में अपने-अपने आंचलिक उपन्यासों की बोली का पुट दिया है। आंचलिक बोली का प्रयोग वार्तालापों में ही हुआ है। उदाहरण के लिए राही मासूम रजा ने 'आधा गांव' में खड़ीबोली उर्दू में भोजपुरी बोली का सम्मिश्रण किया है—'इतना होई कि तनी घरवा के झाड़-पोंछ के चिक्कन कर देई। जांगरी न चाही। ई न सपरी। दुई दिन में बाबा अइहैं। मोल्हल तूं। तनी अली अकबर के बाबा के आ लेवे देह। तोहार न हम तौन दुरगत बनाइव कि मुस्कियायल भूल जइहा।'[2] परन्तु आंचलिक बोली का प्रयोग इतना ही हो कि उपन्यास में सुबोधता और सार्वदेशिकता बरकरार रहे, इस बात के समर्थन की झलक महेन्द्र चतुर्वेदी के इस कथन में मिलती है—'स्थानीय बोली के अति प्रयोग से पात्र अपनी अपरिचितता तथा वैचित्र्य के कारण हमें आकृष्ट भले ही करे, उसमें सार्वभौमिकता का, मानवीय तत्त्वों का अभाव-सा हो जाता है। सुबोधता के अभाव में इसमें सहानुभूति सम्बन्ध स्थापित होना असम्भव हो जाता है।'[3]

यह दोषारोपण कृष्णा सोबती के 'जिन्दगीनामा' पर भी किया जा सकता है। 'जिन्दगीनामा' में प्रयुक्त भाषा एक क्षेत्र-विशेष में जकड़ देती है। परिणामस्वरूप उपन्यास सुबोध और सार्वदेशिक नहीं बन पाता। चूंकि आंचलिक बोली के यथातथ्य अत्यधिक प्रयोग से उपन्यास दोषपूर्ण हो जाता है, इसलिए आंचलिक उपन्यास की भाषा में रचनात्मकता और आंचलिक बोली का सन्तुलित प्रयोग अत्यावश्यक है। आंचलिक उपन्यास की भाषा के साथ-साथ अन्य कठिनाई दूसरी भाषा में उसके अनुवाद को लेकर है। उपन्यास चाहे आंचलिक ही क्यों न हो, लेकिन अगर वह बोली-विशेष का न होकर, हिन्दी का ही आंचलिक उपन्यास हो, तो उसका टुकड़ों में ही सही, हिन्दी ही में अनुवाद जरूरी लगे, तो इसे सामान्य दोष नहीं कहा जा सकेगा। लोकगीतों या लोकोक्तियों की बात दूसरी है, लेकिन उपन्यासकार-द्वारा प्रयुक्त भाषा की बात और दूसरे अंचल की संस्कृति नितांत विशिष्ट होती है, इसलिए अनुवाद में वह बात नहीं आ पाती, क्योंकि—'लोकभाषा की शब्दावली और उक्तियों में मानव-जीवन की सहज अनुभूतियों की सहजता और भंगिमा अनजाने अन्तःकरण को छू जाती है और कभी-कभी तो उसकी प्रभावी व्यंजना में दूसरा कोई शब्द टिक ही नहीं पाता। समर्थ साहित्यकार इसी से लोक-जीवन का सच्चा पारखी होता है। लोक-जीवन के न जाने कितने चलते-फिरते शब्दों को वह बटोरता है।'[4]

इन आलोचनाओं के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासों ने भाषा-भण्डार को समृद्ध तथा आंचलिक भाषा-प्रयोग से विभिन्न अंचलों का

1. डॉ० रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 192
2. राही मासूम रजा : 'आधा गांव,' पेपरबैक संस्करण, पृ० 110
3. महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ० 196
4. राकेश गुप्त : दीर्घा, जून, 1990, पृ० 53

स्वाभाविक तथा यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। आंचलिक उपन्यास लेखकों ने कुछ तो ऐसे मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया है, जो सामान्यत: सभी प्रकार के उपन्यासों में प्रयुक्त होते हैं तथा कुछ ऐसे भी मुहावरों-कहावतों का प्रयोग किया है, जो ठेठ आंचलिक हैं। उदाहरणार्थ—"आन्हर कुकुर बतासें भूखें, सांप का पौआ, गरहकटा, बछिया के ताऊ, लड्डू लड़े, तो बुंदिया झरे, दांत निपोरकर, ऊन की बात दूना, पहले भित्तर, तब देवता-पित्तर, कर-कर कट-कट बांस क बानि, धरती लोटाय जौं बुतरू कानि, कहे घाघ सब कारज फूसि, छौंड़ी सिखाये बुढ़िया को खेल, देखो भाई समय का खेल, आन गामक पोखरि, अपना गामक गाछी, बैल का दिन भर खेत चास करना, चालनी कहे सुई से तेरी पेंदी में छेद, कूप के बेंग, गरीब का घर जरे, गुंडा हाथ सेंके, जइसन देश, वइसन भेस, मियां को न पाऊं, तो बीवी को बकोटूं, चिरई की जान जाये, खवैया को स्वाद नहीं, बड़ बतियाये, चमार लतियाये, जैसे कंता घर रहे, वैसे रहे विदेस, जइसा देवता, वइसी पूजा आदि।

आंचलिक उपन्यासों में बिम्बों, प्रतीकों और काव्यात्मकता के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। 'जल टूटता हुआ' से लिये गए निम्न उद्धरण में प्रतीकात्मकता दर्शनीय है—'सतीश सोच रहा है। इस जवार का जीवन भी तो जल ही है, लेकिन पहले एकसाथ बहता था, बाढ़ में उमड़ता था, एक साथ गर्मी में सूखता था, एक था। अब तो नये-नये बांध बन रहे हैं। उस जल के किनारे—ये बांध भी पोख्ता नहीं हैं, जगह-जगह से दरक जाते हैं। जहां से दरकते हैं, थोड़ा पानी बह जाता है।···और ये पानी कहीं मिल नहीं पाते, विपरीत या समानान्तर धाराओं में बहते ही चले जाते हैं···हां, टूट रहा है, यहां का जल टूट रहा है।'[1]

बिम्बात्मक भाषा का एक नमूना इस प्रकार है—'कजरी का हृदय पानी-भरा बादल था। प्यारी सुलगते काठ-सी धुआं दे रही थी। दोनों की पैनी दृष्टियां टकराईं और उससे जो आग निकली, वह साकार रूप बनकर सुखराम की याद बन गई। वह केन्द्र ढूंढ़कर अतल समुद्र में डूब गई।'[2]

परती-परिकथा से काव्यात्मक भाषा का एक उद्धहरण द्रष्टव्य है—

'स्थिर-निबद्ध, तीव्र दृष्टि।
विनिद्र सुरपति ने शरद पूर्णिमा के चांद को देखा,
हवेली के पोखरे में।
सहस्र कमल-दल पर शशि कला।
सुरपति की आंखों में स्नेह सिंचित लावनी की झलक
दूध की सुगंध चारों ओर प्रकृति के अंग वात्सल्य-गंध
से सराबोर। सरोवर में दूध ही दूध।'[3]

---

1. डॉ० रामदरश मिश्र : जल टूटता हुआ, पृ० 381
2. रांगेय राघव : कब तक पुकारूं, पृ० 188
3. फणीश्वरनाथ रेणु : परती-परिकथा, पृ० 275

ये कुछ उद्धरण यहां इसलिए कि हिन्दी के भाषिक वितान को समृद्ध करने में आंचलिक उपन्यासों का योगदान कितना महत्त्वपूर्ण रहा है।

आंचलिक उपन्यासों में कथन और वर्णन का संयोजन कुछ ढीला होता है। नाटकीयता और दृश्य-नियोजन इन उपन्यासों की बुनावट के हिस्से हैं। नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय के उपन्यासों में कहानी कहने का भाव प्रबल है, फलतः घटनात्मकता ही अधिक है। लेखक को सूचना का सहारा लेना पड़ता है। वह अधिक उपस्थित है। संवादों या कथोपकथनों का नियोजन जीवंतता और विश्वसनीयता उत्पन्न करता है, परन्तु वह शैली के कारण आंचलिक उतना नहीं बना रह पाता, जितना 'मैला आंचल' है। 'मैला आंचल', 'परती-परिकथा' या ऊपर के उद्धरणों में दृश्य का ठहरा हुआ वर्णन प्रतीकों और बिम्बों की युक्तियों के अतिरिक्त संकेतात्मकता उत्पन्न करने के कारण ग्रामीण यथार्थ के भीतर की विवशता और पीड़ा के साथ-साथ राजनैतिक, सामाजिक दशा का भी संकेत करता है।

उपन्यास की रूपाकृति शिल्प-द्वारा ही निर्मित होती है। वस्तु, पात्र, लोकतत्त्वों भाषा, शैली, सभी का गठन शिल्प-द्वारा ही सम्भव है। आंचलिक उपन्यासों में पूर्व-प्रचलित शिल्प से भिन्न शिल्प-प्रयोग हैं। इस नूतन शिल्प-प्रयोग के समारम्भ का श्रेय फणीश्वरनाथ रेणु को जाता है। अन्य प्रकार के उपन्यासों की तुलना में आंचलिक उपन्यासों के शिल्प में ढीलापन और बिखराव होता है। इसके कारण भी हैं। आंचलिक उपन्यासकार अंचल को सम्पूर्णता में व्यक्त करता है, इसके लिए उसे अनेकानेक कथाओं तथा पात्रों का बहुत बड़ी संख्या में संयोजन करना पड़ता है तथा ऐसी वर्णनबहुलता भी शिल्प संगठन में दोष (असंतुलन) उत्पन्न करती है, जो उपन्यास के विन्यास की क्षति करती हो। हिन्दी के दीर्घकाय आंचलिक उपन्यासों—'मैला आंचल', 'परती-परिकथा', 'अलग-अलग वैतरणी', आधा गांव', 'जल टूटता हुआ'—में शिल्पगत बिखराव पाया जाता है। नागार्जुन के उपन्यासों में शिल्पगत बिखराव अपेक्षाकृत कम हैं; क्योंकि विशिष्ट प्रेमचन्द्रीय शिल्प के प्रभाव वाले क्षेत्र या अंचल को लेने पर भी उनका उद्देश्य अंचल को समग्र चित्रण करना नहीं है। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित इनके उपन्यासों का लक्ष्य कथा कहना और उसे अपने लेखकीय उद्देश्य और विचार का निमित्त बनाना है। नागार्जुन ने सर्वाधिक प्रचलित उपन्यास 'बलचनमा' में आत्मकथात्मक शिल्प प्रयुक्त किया है। इसके शिल्प के कतिपय दोषों का विवेचन करते हुए डॉ० गोपालराय कहते हैं—'बलचनमा' में आत्मकथात्मक प्रविधि का प्रयोग करके भी नागार्जुन उसके खतरों से सावधान नहीं रहे हैं। इस प्रविधि का पहला खतरा यह होता है कि यदि स्वगत-चिंतनरत या आत्मकथा सुनाने वाले पात्र को सम्यक् पृष्ठभूमि या भूमिका नहीं प्रदान की जाती, तो उसका सारा आत्मकथ्य हास्यास्पद हो जाता है। इसका दूसरा खतरा यह होता है कि इस प्रविधि के द्वारा जहां आत्मचिन्तनरत पात्र का चरित्र अपने सर्वोत्तम रूप में सामने आता है, वहां दूसरे पात्रों का चरित्र, थोड़ी-सी असावधानी से न केवल धुंधला रह जाता है, वरन् प्रमुख पात्र का कथन भी अप्रामाणिक बन जाता है। 'बलचनमा' में नागार्जुन इन दोनों ही खतरों से बच नहीं पाये हैं। उपन्यास खुलते ही पाठक बलचनमा

के सामने होता है। इस बात का पता ही नहीं चलता कि वह किस मनःस्थिति में स्वगत-चिन्तनरत है अथवा किस अवलोकन-बिन्दु से अपनी कहानी प्रस्तुत कर रहा है। पाठक इस स्थिति से समझौता कर भी लेता है, तो उपन्यास के अन्त में उसे गहरा धक्का लगता है; क्योंकि वह बलचनमा को बेहोशी की हालत में छोड़ता है। सुनने में आता है कि नागार्जुन इस उपन्यास का दूसरा भाग भी लिखने वाले हैं। पर यह अधूरापन प्रविधि का दोष बनकर सामने नहीं आता, यदि नागार्जुन अपने शिल्प के प्रति थोड़ा सावधान होते।'[1]

डॉ० राय के इस मूल्यांकन में एक खामी यह जरूर दिखाई पड़ती है कि उन्हें शिल्प मात्र की इस कमी को आधार नहीं मानना चाहिए; क्योंकि 'यह' या तृतीय पुरुष शैली में लिखे गये उपन्यासों में दूसरे प्रकार के खतरे होते हैं, विशेष रूप से विश्वसनीयता और आत्मीयता के अभाव का खतरा। नागार्जुन के अन्य उपन्यासों की तुलना में 'बलचनमा' क्यों अच्छा है, इसका उत्तर उनका वह शिल्प है, जो निश्चय ही वस्तु से अलग नहीं है। इस शिल्प के कारण ही बलचनमा के अन्तर और बाह्य में एक प्रकार का तालमेल बना रह सका है। अन्य उपन्यासों में आन्तरिकता का अभाव है। बलचनमा का चरित्र के रूप में विकास भी इसी कारण सम्भव हुआ है। 'मैला आंचल' में जहां तकनीकी प्रयोग बहुत हैं, इस शैली से गहराई और चिन्तनशीलता का आयाम विकसित किया गया है। 'हौलदार' में मटियानी ने भी बीच में इस शैली का प्रयोग करके चरित्र को व्यक्तित्त्व ही नहीं प्रदान किया है, बल्कि उसे मानवीयता भी दी है। उपन्यास या किसी भी विधा में चरित्रों में आत्मसजगता या चिन्तन का भाव मानवीयता प्रदान करने का माध्यम भी है।

कुछेक उपन्यासों को छोड़कर हिन्दी के लगभग सभी आंचलिक उपन्यासों में वर्णनात्मक शिल्प का प्रयोग हुआ है। आंचलिक उपन्यास के वास्तविक शिल्पगठन का पूर्ण निखार 'रेणु' के उपन्यासों में देखने को मिलता है, परन्तु 'मैला आंचल' के शिल्पगत बिखराव को दोषपूर्ण मानते हुए नेमिचन्द्र जैन कहते हैं—'उसकी दृष्टि में जितनी सरसता और आत्मीयता है, जितना कवित्व है, उतनी प्रौढ़ता, सूक्ष्मता और पैठ नहीं। इसी से अन्त तक पहुंचते-पहुंचते मेरीगंज की घटनाएं जैसे लेखक के नियन्त्रण से बाहर चली जाती हैं और लगभग स्वतंत्र-सी इधर-उधर टकराती रहती हैं। फलस्वरूप विस्तार बढ़ जाता है और शिथिलता आने लगती है।'[2]

'मैला आंचल' और 'कसप' के शिल्प की तुलना हो सकती है, क्योंकि दोनों ही उपन्यासकारों ने फिल्म की 'डबिंग शैली' का प्रयोग किया है। रेणु की शैली में संकेत

1. डॉ० गोपालराय : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 66
   सं० डॉ० भीष्म साहनी, डॉ० रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया
2. नेमिचन्द्र जैन : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 508, सं० डॉ० भीष्म साहनी, डॉक्टर रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया

अधिक अर्थगर्भ और विस्तृत है। जोशी की शैली व्यंग्यात्मक और विसंगतिपूर्ण है। जोशी का उद्देश्य श्रव्य-दृश्य माध्यम से प्रेमकथा का सूत्र बनाये रखना है और अन्य दृश्यों को विचलन के लिए प्रयुक्त करना है। रेणु के 'मैला आंचल' में भी प्रेमकथा है, कमला और प्रशांत की, लेकिन वह भी माध्यम है।

आंचलिक उपन्यास में शिल्पगत बिखराव कमजोरी नहीं, वरन् विशिष्टता का परिचायक होता है। लेखक कथा के सूत्रों को बीच-बीच में छोड़कर अंचल की अन्य विशेषताओं का वर्णन करने लगता है और शिल्प में बिखराव उत्पन्न होता है; क्योंकि आंचलिक उपन्यासकार के लिए कथा का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि अंचल का। कथावस्तु तो अंचल को चित्रित करने का एक माध्यम-भर होती है। उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास होते हुए भी, रांगेय राघव के 'कब तक पुकारूं' में वर्णनात्मक शिल्प तो मिलता है, परन्तु कथागत या शिल्पगत बिखराव नहीं मिलता, क्योंकि वह अंचल पर आधारित, लेकिन कथा तथा पात्र-प्रधान उपन्यास है।

आंचलिक उपन्यासों के शिल्प के विषय में डॉ० जवाहर सिंह का यह कथन सर्वथा उपयुक्त लगता है—'परन्तु फिर भी आंचलिक उपन्यास की विशिष्ट संरचना का तकाजा है कि इसे परम्परागत औपन्यासिक शिल्प के निकष पर नहीं कसा जाय।'[1]... क्योंकि लेखक का पूरा ध्यान अंचल-विशेष को सम्पूर्णता में चित्रित करने पर रहता है, पात्रों के चरित्र-चित्रण, कथा-विकास और कथात्मक सुसंगठन पर नहीं। अर्थात् अगर आंचलिक उपन्यास में लेखक और आंचलिकता के बुनियादी सारतत्वों अथवा सूत्रों का उनकी पूरी प्रातिनिधिकता, प्रामाणिकता और अर्थवत्ता में उभार ले जाय, तो उसकी मात्र इतनी सफलता को गौण नहीं माना जा सकता; क्योंकि बिना शिल्प की दक्षता के ऐसा सम्भव नहीं।

वस्तुत: शिल्प या भाषा अलग से ऐसी इकाइयां नहीं हैं, जो बहुत चिन्ता का कारण हों। शिल्प अन्तत: भाषा माध्यम के द्वारा भाषा में कथा के ढांचे को बनाये रखने और क्रियात्मकता, चिंतन और जीवंतता को रक्तमज्जा और त्वचा की तरह बनाते चलने, या कहें कि उपन्यास को उसका ढांचा और आत्मा, दोनों प्रदान करने में ही है। ढीली संरचना चिन्ताजनक नहीं, अगर वि वह दृश्यों और कथनों के क्रम से बहुआयामी यथार्थ को उद्घाटित करने और रचने में बाधक न हो! महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यासकार की मूल संवेदना या कथ्य के सन्दर्भ में शिल्प का योगदान क्या है। केवल शिल्पीय प्रयोग रचना नहीं है, वह एक प्रकार के 'कम्पोजीशन' की कला है। इस दृष्टि से देखें, तो 'अलग-अलग वैतरणी' और 'सागर, लहरें और मनुष्य' काफी कसे हुए उपन्यास हैं। उपन्यासकार अपनी संक्षिप्तता में भी मनुष्य के संघर्ष, तेवर और जीने की पद्धति को बताता है। उन दबावों का भी संकेत करता है, जो महानगरीय समाज में पैदा हो रहे हैं।

रचना-विधान में कोई एक अंग आत्यंतिक महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि कृति से बनने वाला प्रभाव ही सारे अंगों की कसौटी है और इनके समायोजन पर संतुलन को

---

1. डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि, पृ० 295

इसी रोशनी में देखा भी जा सकता है।

किस्सागोई (नेरेशन) और वर्णन (डिस्क्रिप्शन) का तालमेल प्रत्येक आंचलिक उपन्यास में भिन्न-भिन्न है। किस्सागोई से तात्पर्य घटना के प्रवाह के वर्णन से होता है।

सभी आंचलिक उपन्यासकारों ने किस्सागोई को विशेष महत्त्व नहीं दिया। फिर भी कुछ आंचलिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता के साथ किस्सागोई को भी महत्त्व दिया गया है। ऐसे उपन्यासों में 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे', 'सागर लहरें और मनुष्य', अलग-अलग वैतरणी', 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन' आदि का नाम लिया जा सकता है। वर्णन के सम्बन्ध में 'सागर, लहरें और मनुष्य' का यह अंश उद्धृत किया जा सकता है—'तीन दिन और तीन रात जब तक समुद्र में तूफान रहा, बरसोवा के मछलीमारों के परिवार ने कुछ न खाया, न पिया। निरन्तर समुद्र की ओर ताकते रहे। एक बूढ़ी औरत ने आकर सोमा को संभाला और पकड़कर घर लौट गई। हीरा का जवान लड़का और पति दोनों समुद्र में गये थे। इसलिए वह लोगों के समझाने पर भी जड़ बनी बैठी रही। चौथे दिन समुद्र के किनारे लाशों से पटे पड़े थे। मानो वीतराग समुद्र ने उन्हें स्वीकार न कर, किनारे पर लाकर डाल दिया हो। झुण्ड-के-झुण्ड उन्हें पहचानने को दौड़ पड़े। जिनमें कुछ जान थी, उन्हें बाहर निकालकर, उल्टा टांग दिया। सरकार की तरफ से स्टीमरों ने डूबते लोगों को बचाकर किनारे पहुंचा दिया और अधमरे विट्ठल नाना, यशवंत, हरिचंद आदि कुछ लोगों को समुद्र के किनारे पटककर लौट गये। फिर भी बरसोवा के बहुत-से मछलीमारों का कुछ भी पता न चला। न वे स्टीमरों से लौटे, न किनारे पर पड़े पाये गये। सामुद्रिक तूफान के बाद, मछलीमारों के गांव बहुत दिन तक अपने आदमियों को खोजते रहे। जागला, बर्लीकर, बाइला कई दिनों बाद डांडा से लाये गये। जिनके आदमी लौटे, उनके घरों में सत्यनारायण की कथा हुई, भोजन कराया गया, उत्सव हुए। समुद्र देवता की धूमधाम से पूजा हुई। वंशी ने महाभारत की कथा बैठायी, जो एक मास तक चली।'[1]

उपन्यास में वर्णन से तात्पर्य किसी घटना का रुककर वर्णन करने से लिया जाता है। अन्य प्रकार के उपन्यासों में वर्णन की उपयोगिता भले ही कम हो, परन्तु आंचलिक उपन्यास में वर्णन का महत्त्व असंदिग्ध रूप से अपरिहार्य है। आंचलिक उपन्यासकार को आंचलिक परिवेश को समग्रता में चित्रित करने के लिए वर्णनात्मकता का सहारा लेना ही पड़ता है। वर्णनाधिक्य से वस्तु की एकसूत्रता और सुसम्बद्धता के लिए खतरा जरूर उत्पन्न हो सकता है, परन्तु अंचल के समग्र चित्रण में वह सहायक ही होता है।

'आंचलिक उपन्यास की कथा अधिक यथार्थ होती है। वर्ण्य-विषय की सच्चाई, संश्लिष्टता और समग्रता को वर्णन की चित्रात्मकता के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यासकार एक विशेष भौगोलिक संस्कृति के वातावरण में घटने वाले दैनिक मानवीय कार्य-कलापों का यथाचित्र निरूपण करता है। अतः इस प्रकार के उपन्यासों में

---

1. उदयशंकर भट्ट : सागर, लहरें और मनुष्य, पृ० 67

वर्णनात्मकता प्रखर और प्रमुख होती है। कथासूत्र अपेक्षाकृत क्षीण रहता है।'[1]

रेणु के उपन्यासों में वर्णनाधिक्य ने कथा-विकास को बाधित और शिल्प-संगठन को कहीं-कहीं भले ही कुछ कमजोर किया है, लेकिन कथारस की क्षति नहीं की है। कथारस को 'किस्सागोई' के कौशल में संजोकर प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'मैला आंचल' का एक उद्धरण द्रष्टव्य है—

'कोठी के बगीचे में आज भी मेरी की कब्र मौजूद है। कोठी की इमारत ढह गयी है, नील के हौज टूट-फूट गये हैं, पीपल, बबूल तथा अन्य जंगली पेड़ों का एक घना जंगल तैयार हो गया है। लोग उधर दिन में भी नहीं जाते। कलमी आम का बाग तहसीलदार साहब ने बन्दोबस्त में ले लिया है, इसलिए आम का बाग साफ-सुथरा है। —किन्तु कोठी के जंगल में तो दिन में भी सियार बोलता है। लोग उसे भुतहा जंगल कहते हैं। तत-माटोले का नन्दलाल एक बार ईंट लाने गया; ईंट में हाथ लगाते ही खत्म हो गया था। जंगल से एक प्रेतनी निकली और नन्दलाल को कोड़े से पीटने लगी।—सांप के कोड़े से। नन्दलाल वहीं ढेर हो गया। बगुले की तरह उजली प्रेतनी।'[2]

उपन्यासकार अंचल के किसी दृश्य या वातावरण का भाषा-द्वारा चित्र-खींचने के लिए चित्रांकन शैली का प्रयोग करता है। चित्रात्मकता 'रेणु' के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। रेणु ने दृश्यांकन का अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया है। नागार्जुन के उप-न्यासों में चित्रांकन की अपेक्षा दृश्यांकन अधिक मिलता है। चित्रात्मकता की दृष्टि से 'परती-परिकथा' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। दृश्यों के चित्रांकन में रेणु को सिद्धि प्राप्त है।

गांव के पश्चिम से बहती हुई दुलारी दाय की धारा तीन और विशाल प्रान्तर, तृण-तरुशून्य लाखों एकड़ बादामी रंग की धरती! दुलारीदाय इसकी पश्चिमी रेखा है—जहां से हरियाली शुरू होकर पश्चिम की ओर गहरी होती गई है। उन दोनों हाथों से दोनों कछार की धरती पर सुख-समृद्धि बांटती हुई दुलारीदाय, बन्ध्या धरती की संवेदना में बहती अश्रुधारा-जैसी!···गांव के दक्खिन हजारों सेमल पेड़ों का बाग है, सेमल-बनी। फूलों के मौसम में लाल आसमान को मैंने देखा है—अपलक नेत्रों से, अचरज-भरी निगाहों से। लाल आसमान।'[3]

यदि इस तथ्य पर विचार किया जाय कि हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उप-न्यासकार कौन है, तो इस बात पर सभी एकमत होंगे कि 'आंचलिक उपन्यास' संज्ञा का आविष्कार करने वाले रेणु ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार माने जा सकते हैं। 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा, के कारण हिन्दी के आंचलिक उपन्यास— क्षेत्र में रेणु का योगदान अविस्मरणीय बन गया है। दोनों ही उपन्यास श्रेष्ठ आंचलिक उप-न्यासों में परिगणित किये जाते हैं। अन्य कोई भी आंचलिक उपन्यास आंचलिकता के

---

1. डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास, पृ० 36
2. फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल, पृ० 13
3. वही, परती-परिकथा, पृ० 17

सारतत्वों की सघनता की दृष्टि से इनके समकक्ष नहीं ठहर पाता। रेणु ने बड़े राग, आत्मीयता और कलात्मकता से इनकी रचना की है। लोकतत्वों-लोककथाओं, लोक-गीतों, लोकबोली, आंचलिक मुहावरों और कहावतों के सुन्दर प्रयोग से अंचल जीवंत हो उठा है।

विशिष्ट अंचल को चुनकर उसका जैसा समग्र चित्रण रेणु ने किया है, वैसा अभी तक अन्य कोई उपन्यासकार कर नहीं सका है। अंचल से प्रबल मोह होने के कारण ही, उन्होंने कथात्मक एकसूत्रता, रोचकता, चरित्र-चित्रण यहां तक कि शिल्प के मान्य मानकों तक की उपेक्षा कर हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में सर्वथा नवीन प्रयोग किया, जो बाद के कितने ही उपन्यासकारों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया। परम्परागत उपन्यासों की भांति किसी मानव-पात्र को नायक न बनाकर 'अंचल' को नायक की भूमिका में प्रस्तुत किया।

'मैला आंचल' के सम्बन्ध में डॉ० उमाशंकर जोशी ने सही लिखा है कि—'अमुक आकर्षक कथावस्तु को गूंथकर प्रस्तुत करने का अथवा अमुक पात्रों या पात्र पर ध्यान केन्द्रित करने का कोई उपक्रम यहां नहीं दिखाई देता। इस उपन्यास में कथावस्तु बिखरी-बिखरी-सी मालूम होगी। पात्र भी अलग-अलग मनकों की तरह दीख पड़ेंगे। मन के सन्तोष के लिए हम कह सकते हैं कि कथा के नायक के स्थान पर है, मेरीगंज गांव।'[1]

रेणु ने भाषा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण रचनात्मक प्रयोग किये हैं। आंचलिक बोली, प्रसंगानुकूल—पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग, अनेक प्रकार की ध्वनियों को शब्दवद्ध करना, काव्यात्मक बिम्बों का प्रयोग 'रेणु' की उपन्यास-भाषा की मुख्य विशेषताएं हैं। काव्यात्मक भाषा-प्रयोग में 'रेणु' का कोई सानी नहीं। डॉ० सियाराम तिवारी तो कहते हैं—'रेणु ने जो जीवन लिया है, यह उनका भोगा हुआ है, उसके वे अंग थे, वह उसके पर्य-वेक्षण का नहीं, अनुभूति का विषय हो गया था। ये सब काव्य की विशेषतायें होती हैं, इसलिए 'रेणु' के उपन्यासों में उपन्यास के कुतूहल के साथ-साथ काव्य का सम्पूर्ण चारुत्व, समग्र माधुर्य एवं सारी रमणीयता अपने उत्कर्ष के साथ विद्यमान है। इस यश का अधिकारी अब तक हिन्दी का कोई कथाकार नहीं हुआ।'[2]

'परती-परिकथा' की भाषा की प्रशंसा करते हुए श्री धनंजय वर्मा कहते हैं—'सर्वत्र भाषा में एक सौष्ठव है और अपनी परिनिष्ठा में वह स्खलित नहीं हुई। गद्य की भाषा का यह परिष्कार है, उसकी शक्ति का विस्तार है'' जनभाषा के प्रयोग में यह

1. डॉ० उमाशंकर जोशी : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 109, सम्पादक—डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त
2. डॉ० सियाराम तिवारी : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास, पृ० 99, सम्पादक—डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त

प्रेमचन्द से आगे का चरण है।'[1]

'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा', दोनों ही उपन्यासों में विशुद्ध आंचलिक उपन्यास के तत्वों के विशिष्ट प्रयोग, लोकतत्वों, तथा अनेकानेक कथाओं का विश्रृंखलित प्रयोग, आंचलिक बोली का पुट, नायकविहीनता, शिल्पगत बिखराव, अंचल के समग्र चित्रण के लिए अधिकाधिक पात्रों का समावेश—मिलते हैं। इनमें भी 'परती-परिकथा', 'मैला आंचल' की तुलना में श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। 'मैला आंचल' आंचलिक उपन्यास की दृष्टि से रेणु-द्वारा किया गया प्रथम प्रयोग है। अतः दूसरे उपन्यास परती-परिकथा' में 'रेणु' ने इसकी पात्रगत, कथागत और शिल्पगत कमजोरियों को दूर करने की कोशिश की है। 'मैला आंचल' में रेणु जिस आंचलिक दृष्टि का प्रारम्भ कर आये हैं, 'परती-परिकथा' के लिए यह सशक्त पृष्ठभूमि का कार्य करती है। यह कहना भी उपयुक्त होगा कि 'रेणु' के 'मैला आंचल' के अभाव एक सीमा तक 'परती-परिकथा' में दूर हो गये हैं।

'मैला आंचल' में रेणु ने 'राष्ट्रीय त्रासदी' को न केवल ध्यान में रखा, बल्कि 'मैला आंचल' को ही पूरा भारत बनाने का प्रयत्न किया। 'परती-परिकथा' में भारत कहीं नहीं है, विशुद्ध आंचलिकता है—अपने हाहाकार और कराह के साथ। इसलिए 'मैला आंचल' एक अर्थ में आंचलिक होकर भी वस्तु, दृष्टि या संवेदन में आंचलिक नहीं है। आंचलिकता का इसमें शिल्पगत प्रयोग मुख्य है। 'परती परिकथा' ही मूलतः एक समग्र आंचलिक उपन्यास है। नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची' या 'बलचनमा' कथात्मक इकाई के निर्वाह के बावजूद 'परती-परिकथा' के स्तर के उपन्यास इसीलिए नहीं हैं कि नागार्जुन गम्भीरता से उपन्यास नहीं लिखते हैं। वह प्रायः इसका इस्तेमाल अपने क्रोध और सिद्धांत के लिए करते दिखाई पड़ते हैं। उनमें रचना से विचार को अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति दिखती है।

आंचलिक उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। आंचलिक उपन्यासों का सबसे बड़ा योगदान है कि उन्होंने इस विधा को अधिक मानवीय, जीवंत और विश्वसनीय बनाया। प्रेमचन्द के सपाट किस्सों और अज्ञेय, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश आदि के चिन्तनशील, जड़हीन और प्रकृतिरहित उपन्यासों के समान्तर इन उपन्यासों ने आदमी को उसके परिवेश और सम्बन्धों के साथ प्रस्तुत किया। इन उपन्यासों का मनुष्य, 'कसप' के डी० डी० को छोड़ दिया जाय, तो केवल चिन्तनशील प्राणी ही नहीं, अनेक समस्याओं से घिरा और एक परेशान व्यक्ति है। आन्तरिकता और बाह्यता के संतुलन की दृष्टि से 'रतिनाथ की चाची', 'कब तक पुकारूं', 'अलग-अलग वैतरणी', 'अंधेरे बन्द कमरे' से कहीं अच्छा है। आंचलिक उपन्यासों में जहां एक ओर लगता है, उसका दायरा सीमित है, वहीं भीतर से उसकी दुनिया अपने में सम्पूर्ण लगती है। मिट्टी, पानी, पेड़, पौधे, जीव-जन्तु, हवा-धूप आदि सबके साथ मनुष्य

1. डॉ० धनंजय वर्मा : परती-परिकथा, एक स्वतंत्र कलाकृति : आलोचना, अंक 57, पृ० 84

न केवल जीता है, बल्कि दुखों, लड़ाइयों, खुशियों, बदमाशियों और अंधविश्वासों में वह साथ है। आंचलिक उपन्यास समानान्तर उपन्यास हैं, जिसके कारण दो आमने-सामने रखे शीशों की तरह गैर-आंचलिक और आंचलिक उपन्यासों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं। वैसे तर्क की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों की तुलना में अज्ञेय, जैनेन्द्र के उपन्यास भी आंचलिक हैं; क्योंकि इन उपन्यासों की बनावट और बुनावट का प्रभाव उन्हें भारतीय समाज के सन्दर्भ में एक कोने अंचल में खड़ा कर देता है। ये उपन्यासकार जहां एक ओर प्रेमचन्द की सपाट औपन्यासिक परम्परा से अलग हैं, वहीं दूसरी ओर आंचलिक उपन्यास-परम्परा से भी अलग हैं।

आंचलिक उपन्यासों में प्रेमचन्द की सामाजिक-राजनैतिक चेतना भी किसी-न-किसी रूप में है। उसका कारण है कि आंचलिक रचनाकार अपने स्थल या अंचल की हालत के कारणों, या कहें कि वहां की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से भी परिचित है और चूंकि परिचित और सगा है, इसलिए संवेदना को निर्मित करने में वह भी असर डालता है। इसलिए आंचलिक उपन्यासकारों को यदि दृष्टि की सीमा या सिकुड़ेपन का दोषी ठहराया जाता है, तो इसे एक निर्णायक फतवे के रूप में नहीं देखा जा सकता, क्योंकि अनेक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकारों ने संवेदना के धरातल पर भारत के सामाजिक विराट के उपेक्षित क्षितिजों को पूरी रागात्मकता और जुड़ाव के साथ उजागर किया है।

देखा जाय, तो अज्ञेय, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा आदि के उपन्यास भी व्यापक भारतीय समाज के सन्दर्भ में, उपन्यास से पढ़ने वाले समग्र प्रभाव के तर्क से, उसी प्रकार की वर्गाश्रयी प्रवृत्ति के शिकार माने जा सकते हैं, जैसे अन्य, अगर कि उद्देश्य पूर्वाग्रह-ग्रस्त वर्गीकरण ही हो। बल्कि विश्लेषण की तीव्रता में भी इस अर्थ में आंचलिक सिद्ध किये जा सकते हैं कि इनमें भी भारतीय समाज के 'संकुचित कोने' (अंचल) ही दिखेंगे, जबकि उपन्यास के महाकाव्यात्मक होने के तर्क से देखें, तो उसमें मानव (समाज) का विराट परिदृश्य किसी-न-किसी कोण से उभरना जरूर चाहिए। इस तथ्य की ओर डॉ० विजय देवनारायण साही ने काफी पहले ही संकेत किया था कि 'अंचल' शब्द को सिर्फ आंचलिक उपन्यासों तक ही सीमित नहीं किया जा सकता।

कदाचित् 'आंचलिकता' को ही आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य करार दिया जाय, तो भी कहा जा सकता है कि आंचलिकता शिल्पीय प्रयोग भी हो सकती है और रचनाकार की संवेदनात्मक निर्मिति का प्राणतत्व भी। 'मैला आंचल' में वह शिल्पीय प्रयोग अधिक है, परन्तु 'परती-परिकथा', बलचनमा', 'जल टूटता हुआ', 'कब तक पुकारूं', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'आधा गांव', 'अलग-अलग वैतरणी', 'लाल पीली जमीन', या 'एक टुकड़ा इतिहास', 'कगार की आग', अथवा 'चिट्टीरसैन' आदि में वह संवेदनात्मक निर्मिति का हिस्सा भी है। आंचलिक उपन्यासों में जिन गांवों को विषय बनाया गया है, वे भारत के बड़े सामाजिक हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं। गांव या अंचलों के प्रति रुझान भी अंततः उस संवेदनात्मक वस्तुबोध का ही प्रतिनिधित्व करता है, जो सारे

भारत के सन्दर्भ में ही निर्मित हुआ है। स्थानीयता, दृश्यीकरण, लोकजीवन का उद्घाटन भी उस वस्तुबोध की ही परिणिति हैं। तब कहना होगा कि साहित्य के मूल्यांकन को समग्रता के तर्क से ही देखा जा सकता है और इस दृष्टि से देखने पर आंचलिक उपन्यासों को हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक महती उपलब्धि मानने में संकोच की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; क्योंकि अनेक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासों ने उपन्यास के रचना-विधान के क्षेत्र में सम्भावनाओं के नये और विस्तृत क्षितिजों को उजागर किया है। यहां विख्यात लेखक-विचारक निर्मल वर्मा के इस कथन को पुन: उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा—'रेणु ने जिस तीली से किसान के धूल-धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था, उसी तीली से हिन्दी के परम्परागत यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे को भी एकाएक ढहा दिया था। 'मैला आंचल' और 'परती-परिकथा' महज उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं, ये भारतीय साहित्य में पहले उपन्यास हैं, जिन्होंने झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी, जो यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे से बिलकुल भिन्न थी।'

उपरोक्त उद्धरण, उपन्यास के परम्परागत रचना-विधान के सन्दर्भ में आंचलिक उपन्यासों के रचना-विधान की प्रासंगिकता को बिलकुल स्पष्ट रूप से रेखांकित कर देता है।

परिशिष्ट

शोध-प्रबन्ध में विवेचित-सन्दर्भित उपन्यास

अभिमन्यु अनत : एक बीघा प्यार
अमृतलाल नागर : सेठ बांकेमल, बूंद और समुद्र
आनन्दप्रकाश जैन : आठवीं भांवर
उदयशंकर भट्ट : शेष-अशेष, सागर, लहरें और मनुष्य, लोक-परलोक
कृष्णा सोबती : जिन्दगीनामा
गोपाल उपाध्याय : एक टुकड़ा इतिहास
गोविन्द मिश्र : लाल-पीली जमीन
जयप्रकाश भारती : कोहरे में खोये चांदी के पहाड़
जगदीशचन्द्र पाण्डेय : गगास के तट पर
देवेन्द्र सत्यार्थी : दूधगाछ, ब्रह्मपुत्र, बेला फूले आधी रात, रथ के पहिये, धीरे बहो गंगा
नागार्जुन : बलचनमा, रतिनाथ की चाची, नई पौध
नरेन्द्रदेव वर्मा : सुबह की तलाश
नरेश मेहता : यह पथबन्धु था
फणीश्वरनाथ रेणु : मैला आंचल, परती-परिकथा
बलभद्र ठाकुर : मुक्तावली, नेपाल की वो बेटी, देवताओं के देश में, घने और बने, लहरों की छाती पर
मधुकर गंगाधर : सुबह होने तक
मनोहर श्याम जोशी : कसप
योगेन्द्रनाथ सिन्हा : वन के मन में
रांगेयराघव : कब तक पुकारूं
राजेन्द्र अवस्थी : सूरज किरन की छांव, जाने कितनी आंखें, जंगल के फूल
रामदश मिश्र : पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ
राही मासूम रजा : आधा गांव

विवेकी राय : सोना-माटी
शानी : कस्तूरी
शिवप्रसाद सिंह : अलग-अलग वैतरणी
शिवपूजन सहाय : देहाती दुनिया
शैलेश मटियानी : चिट्ठीरसैन, चौथी मुट्ठी, होलदार, मुख-सरोवर के हंस
श्रीलाल शुक्ल : रागदरबारी
सत्यप्रसाद पाण्डेय : चन्द्रवदनी, खारे जल का गांव
सुरेन्द्र पाल : लोक लाज खोई

सन्दर्भ-ग्रन्थ

डॉ० अमर जयसवाल : बहुचर्चित उपन्यास और उपन्यासकार
डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास
डॉ० इन्द्रप्रकाश पाण्डेय : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य
डॉ० उषा डोगरा : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का लोकतात्विक विमर्श
डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : हिन्दी का वैज्ञानिक इतिहास
गुलाबराय : काव्य के रूप
गोविन्द मिश्र : साहित्य का सन्दर्भ
गोविन्द त्रिगुणायत : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत (द्वितीय भाग)
चन्द्रकांत वांदिवडेकर : गोविन्द मिश्र : सृजन के आयाम (सम्पादित)
जैनेन्द्र कुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय
डॉ० जवाहर सिंह : हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि
डॉ० देवेश ठाकुर : मैला आंचल की रचना-प्रक्रिया
डॉ० धनंजय वर्मा : दिशाओं के परिवेश
नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य
डॉ० निर्मला जैन : साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन (सम्पादित)
डॉ० नगीना जैन : आंचलिकता और हिन्दी उपन्यास
प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास
प्रेमचन्द : प्रेमचन्द : कुछ विचार, साहित्य का उद्देश्य
डॉ० बदरीप्रसाद : प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास
ब्रजनन्दन सहाय : राधाकांत
डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण
डॉ० रणवीर रांग्रा : समसामयिक हिन्दी साहित्य

रामदरश मिश्र : हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, आधुनिक परिवेश और नवलेखक
डॉ० रामदरश मिश्र :
डॉ० ज्ञानचन्द्र गुप्त : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास (सम्पादित)
राजेन्द्र यादव : चन्द्रकांता (भूमिका)
राधेश्याम कौशिक : हिन्दी के आंचलिक उपन्यास
डॉ० लक्ष्मीनारायण पांडेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य
डॉ० विमलशंकर नागर : हिन्बी के आंचलिक उपन्यास : सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ
डॉ० वेदप्रकाश अमिताभ :
डॉ० प्रेमकुमार : उपन्यासकार रामदरश मिश्र (सम्पादित)
डॉ० शंकरदेव अवतरे : हिन्दी साहित्य में साहित्य-रूपों के प्रयोग
शशिभूषण सिंहल : हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां
डॉ० शम्भू सिंह : रांगेय राघव के आंचलिक उपन्यास
डॉ० शिवबहादुर भदौरिया : हिन्दी उपन्यास : सृजन और प्रक्रिया
शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास
डॉ० सत्यपाल चुघ : प्रेमचन्द्रोत्तर उपन्यासों की शिल्प-विधि
डॉ० सुरेश सिन्हा : हिन्दी उपन्यास : उद्भव एवं विकास

विदेशी सन्दर्भ-ग्रन्थ

ई० एम० फोर्स्टर : उपन्यास के पक्ष : टू चियर्स फॉर डेमोक्रेसी
इयान वॉट : उपन्यास का उदय
ए सीद्रोरोव : साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र (संकलन)
डी० एच० लारेंस : सेलेक्टेड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म
एच० एम० ब्लाक और
एच० एल० आलिगर : दि आर्ट ऑफ द नॉवेल (सम्पादित)
द एसेस ऑफ फोर डिकेड्स
डब्ल्यू०एच० हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिट्रेचर
तॉलस्तॉय : लेखन-कला और रचना-कौशल, नॉवलिस्ट आन द नॉवेल्स
पर्सी लब्बक : द क्राफ्ट ऑफ द फिक्शन
हेनरी जेम्स : द आर्ट ऑफ फिक्शन

कोश

भारतीय साहित्य कोश : सं० डॉ० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण

वृहत हिन्दी कोश : सं० कालिका प्रसाद, राजावल्लभ सहाय, मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव

हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) : सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० रघुवंश

पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना, आजकल, कल्पना, गंगा, दिनमान, दीर्घा, नई कहानी, नई धारा, निरन्तर, पूर्वग्रह, मूल्यांकन, लहर, सारिका

अन्य सन्दर्भ

1. रघुवीर सहाय : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के रूसी भाषा केन्द्र में भारतीय और रूसी सोवियत साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन पर आयोजित गोष्ठी के अवसर पर 2-3-87 को पठित उद्घाटन-भाषण का सारांश
2. डॉ० राही मासूम रजा : दूरदर्शन के 'पत्रिका' कार्यक्रम में दिया गया एक इण्टर-व्यू : 24 जून 1990

□□